भारतीय भाषाएं

भारतीय भाषाएं

(विभिन्न भारतीय भाषाओं के उद्भव और विकास पर प्रसारित वार्ताएं)

सम्पादक

रमेश नारायण तिवारी

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

भाद्रपद 1907 सितम्बर 1985

मूल्य : 8.50

निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार
पटियाला हाउस नई दिल्ली–110001 द्वारा प्रकाशित

विक्रय केन्द्र ● प्रकाशन विभाग

- सुपर बाजार (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली–110001
- कामर्स हाउस, करीमभाई रोड, बालार्ड पायर, बम्बई–400038
  8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता–700069
- एल० एल० आडीटोरियम, 736, अन्नासलै, मद्रास–600002
- बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना–800004
- निकट गवर्नमेंट प्रेस, प्रेस रोड, त्रिवेन्द्रम–695001
- 10 बी, स्टेशन रोड, लखनऊ–226001
- स्टेट आर्किलाजिकल म्यूजियम बिल्डिंग, पब्लिक गार्डन, हैदराबाद–500004

प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, शिमला द्वारा मुद्रित

भूमिका

समय-समय पर आकाशवाणी से विविध प्रकार की सामग्री प्रसारित होती रही है और इसमें कोई अतिशयोक्ति नही होगी यदि हम कहें कि एक अनवरत ज्ञानगंगा आकाशवाणी के माध्यम से निरन्तर प्रवाहित होती रही है। इस प्रकार आकाशवाणी केवल मनोरंजन का ही साधन नही बल्कि भारत जैसे विशाल देश में तो यह अतुल ज्ञान को फैलाने का माध्यम बन सकी। कभी-कभी तो आकाशवाणी से ऐसी गंभीर और साहित्यिक सामग्री सुलभ होती है जो आमतौर से नही मिल पाती।

पिछले दिनो आकाशवाणी के शिमला केन्द्र से विभिन्न भारतीय भाषाओं के उद्भव और विकास से संबंधित ऐसी ही अमूल्य सामग्री वार्ताओं के रूप में प्रस्तुत की गयी थी जो स्थाई महत्व की चीज बन पड़ी है। इनका अध्ययन करने से सामान्य पाठक को असमिया, बंगला, गुजराती, मराठी, सिंधी, कश्मीरी, उर्दू, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, उड़िया, पंजाबी और अंग्रेजी भाषा के क्रमिक विकास को बड़े ही सुनिश्चित ढग से सुलभ किया गया था। हिन्दी और संस्कृत भाषाओं की विकास यात्रा को भी इसी क्रम में रूपायित किया गया था। इस प्रकार कुल मिलाकर यह एक ऐसा संकलन सहज ही तैयार हो गया जिसे पढ़कर कोई भी सुधी पाठक भाषाओं के साहित्य के बारे में काफी जानकारी एक स्थान पर ही प्राप्त कर सकता है। इसी उद्देश्य से इस संग्रह को प्रकाशित किया जा रहा है। हमें आशा है कि न केवल छात्रों को बल्कि भारतीय भाषाओं में रुचि रखने वाले किसी भी देशी या विदेशी भारतीय पाठक को यह सामग्री पसंद आयेगी और निस्संदेह वह इससे लाभान्वित भी होगा।

इन वार्ताओं का नियोजन और आकल्पना श्री अमीर चन्द खेड़ा और श्री केशव स्वामी ने की तथा इनका परिशोधन डा. मनमोहन गौतम ने बड़ी विद्वत्तापूर्ण ढंग से किया। इसके लिए हम तीनों के आभारी हैं। इसके साथ ही हम उन सभी वार्ताकारों के प्रति आभार प्रकट करते हैं जिन्होंने इतनी श्रेष्ठ सामग्री उपलब्ध कराई और थोड़े में ही बड़े रचना, कौशल के साथ इतनी अधिक उपादेय सामग्री लेखबद्ध की।

—सम्पादक

अनुक्रम

			पृष्ठ
1.	असमिया भाषा का उद्भव और विकास	भूपेन्द्र राय चौधुरी	1
2.	बंगला भाषा का उद्भव और विकास	डा. अणिमा सिंह	7
3	गुजराती भाषा का उद्भव और विकास	डा. भोलाभाई पटेल	14
4.	मराठी भाषा की उत्पत्ति और विकास	डा. प्रभाकर माचवे	18
5.	सिन्धी भाषा का उद्भव और विकास	डा. मुरलीधर जैतली	23
6.	कश्मीरी भाषा का उद्भव और विकास	डा. बी. एन. पंडित	29
7.	उर्दू भाषा का उद्भव और विकास	डा. एम. के. ए. बेग	33
8.	तमिल भाषा का उद्भव और विकास	पूर्ण रामचन्द्र 'उमाचन्द्रन'	38
9.	तेलुगु भाषा का उद्भव और विकास	प्रो जी. सुन्दर रेड्डी	43
10.	कन्नड भाषा का उद्भव और विकास	डा. टी. जी. प्रभाशंकर प्रेमी	48
11.	मलयालम भाषा का उद्भव और विकास	एन. वैंकटेश्वरन	53
12.	उड़िया भाषा का उद्भव और विकास	डा. अपला प्रधान	57
13.	पंजाबी भाषा का उद्भव और विकास	डा. प्रेम प्रकाश सिंह	62
14.	संस्कृत और आर्य भाषाएं : उद्भव और विकास	डा. बलदेव सिंह	68
15.	अंग्रेजी भाषा का उद्भव और विकास	डा. मन्निणी प्रसाद	74
16.	हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास	डा. हरवेश लाल शर्मा	81

असमिया भाषा का उद्भव और विकास

–भूपेन्द्र राय चौधुरी

भारतवर्ष के पूर्वोत्तर खण्ड में विशाल ब्रह्मपुत्र नदी के दोनों तटों पर फैले हुए असम प्रान्त की प्रधान भाषा है–असमिया। भारतीय संविधान में स्वीकृत कुल पन्द्रह भाषाओं में यह अन्यतम है। प्रदेश के पूर्वी छोर शादिया से लेकर पश्चिम के गोवालपारा तक—इस व्यापक भू-खण्ड के करीब दो करोड़ लोग असमिया बोलते हैं। इस प्रान्त को चारों ओर घेरे हुए मेघालय, मिजोरम, अरुणाचल, नगाभूमि आदि पहाड़ी इलाकों में प्रधानतः चीनी–तिब्बती तथा आस्ट्रिक कबीलों की बहुतायत हैं। इन पहाड़ी प्रदेशों की अपनी-अपनी बोली रहने के बावजूद असमिया भाषा से इनका गहरा सम्बन्ध रहा है।

असमिया भाषा का उद्भव मागधी-प्राकृत से बतलाया जाता है। मागधी-प्राकृत के पूर्वी वर्ग से जो आधुनिक भारतीय भाषाएं निकली है, उन में असमिया, बंगला, उड़िया आदि प्रधान है। सर जार्ज ग्रियर्सन ने असमिया भाषा को बहिरंग शाखा के पूर्वी वर्ग के अन्तर्गत माना है। डा. सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार पूर्वी हिन्दी, बिहारी, उड़िया और बंगला के साथ असमिया भी प्राच्यवर्ग के अन्तर्गत है। डा. धीरेन्द्र वर्मा भी चटर्जी के इस वर्गीकरण से सहमत है। डा चटर्जी मागधी-प्राकृत से चार अपभ्रंश बोलियों की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। ये बोलियाँ है—राड, वंग, वरेन्द्र एवं कामरूप। इसी कामरूप से असमिया तथा उत्तरबंग की भाषाओं का उद्भव वे स्वीकार करते है। डा वाणीकान्त काकति असमिया को मागधी-अपभ्रंश से उद्भूत मानकर डा. चटर्जी के मत का खण्डन करते हैं और असमिया को एक स्वतंत्र भाषा के रूप में स्वीकार करते हैं।

प्राचीन काल से ही असम आर्य और अनार्य का संगम-स्थल रहा है। ब्रह्मपुत्र तथा गंगाघाटी से काकेशीय, उत्तर-पश्चिम से मंगोलीय तथा आस्ट्रीय के यायावरी लोग समय-समय पर आकर यहां के विभिन्न आंचलों में निवास करते रहे।

आकाशवाणी गुवाहाटी से *28 मार्च, 1980 को प्रसारित।

84-M/P(N)473MofI&B—2

फलतः इस ब्रह्मपुत्र घाटी की भाषा में अपूर्व समन्वय सम्पन्न हुआ है। डा. वाणीकान्त काकति के अनुसार देशज असमिया शब्दों के तीन स्रोत है-प्रथमत, आस्ट्र-एशियाटिक जिसमें खासी, कोल और मालय के शब्द हैं, द्वितीयत., तिब्बत, वर्मी-एवं तृतीयतः आहोम भाषा के शब्द-सम्भार। असम के एक अन्य भाषाशास्त्री रायबहादुर कालिराम मेधि ने असमिया भाषा की उत्पत्ति में प्राक्-वैदिक और वैदिक काल के अनेक शब्दो का संयोग माना है। इस प्रकार असमिया भाषा के निर्माण में आर्य, खासी, कोल, मालय, तिब्बत-वर्मी, शान अर्थात् आहोम भाषा का विशेष अवदान रहा है।

असमिया भाषा के उद्भव का ठीक काल-निर्णय करना कठिन अवश्य है पर उपलब्ध ताम्रलिपि, दानपत्र, शासनावली से इस विषय में जानकारी मिलती है। कामरूप राज्याधिपति कुमार भास्कर वर्मा के समय यानी सातवी शताब्दी में आये हुए भ्रमणकारी ह्वेनत्साग के यात्रा-वर्णन में यह टिप्पणी मिलती है-मध्यभारत की भाषा और प्राचीन कामरूपी में किंचित भेद है। स्पष्ट होता है कि सातवीं शताब्दी के कुछ पूर्व से ही असमिया भाषा का स्वतंत्र रूप पनपने लगा था। कुमार भास्कर वर्मा के समय का कुछ दानपत्र एवं ताम्रलिपि का उद्धार हुआ है जिससे भी यह मत पुष्ट होता है। अब तक प्राप्त एक शिलालेख 554 ईस्वी का है। यह नगांव जिले का राजाधिराज भूतिवर्मा के समय का है। परन्तु इस शिलालेख की भाषा संस्कृत है। अतः यह स्पष्ट होता है कि सातवी शताब्दी क पूर्वार्द्ध में असम में सस्कृत का प्राधान्य रहा होगा और धीरे-धीरे आर्य-अनार्य टोलियों के समिश्रण के फलस्वरूप असमिया भाषा का रूप उभर आया होगा। इस प्रकार दसवी शताब्दी से असमिया भाषा का पूर्णतः विकास माना जाना चाहिए। साथ ही उत्कृष्ट साहित्य की रचना भी 15वी-16वी शताब्दी में कोचराजा नरनारायण के समय राजानुग्रह के कारण हुई और असमिया भाषा का विकास चरमोत्कर्ष तक पहुंचा। इसी समय असमिया साहित्य को महापुरुष शंकरदेव जैसा महान साहित्यकार भी उपलब्ध हुआ था।

वस्तुतः भाषा का विकास-क्रम इसके साहित्य के द्वारा उपलब्ध होता है। किन्तु अद्यावधि असमिया साहित्य के जो इतिहास लिखे गये है वे अनेक कारणो स अपूर्ण प्रतीत होते हैं। असमिया भाषा के विकास-काल को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है-आदिकाल, मध्यकाल एवं आधुनिक काल।

आदिकाल का समय ई. 800-1300 तक माना जा सकता है, पर कुछ आलोचक ई. 700 से इस का प्रारम्भ मानते है। उद्भव काल के इस साहित्य में

लोक साहित्य के अतिरिक्त चर्यापद, दोहे, डाक वचन, मन्त्र साहित्य आदि उपलब्ध होते हैं।

मागधी अपभ्रंश से प्रभावमुक्त असमिया भाषा का एक प्राचीन नमूना सप्रकार है :-

प्रिय संगमि कउ निपडी केम्म
मई बिन्नि वि विन्न सिया निफ
न क्षम्व न तेम्व

अर्थात्, प्रिय के साथ और प्रिय के वियोग में कैसे नींद आ सकती है। न इस तरह न उस तरह।

बौद्ध-सम्प्रदाय के सहजिया सिद्धों द्वारा रचित 'चर्यापद' और दोहावली का एक संकलन सन् 1907 में नेपाल के राज-ग्रंथागार से महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने प्राप्त किया है। इन पदों के 23 रचयिताओं में कामरूप के लुईपाक आदि दो-चार सिद्धों के होने का प्रमाण मिला है। चर्यापद का एक नमूना इस प्रकार है, जिस में कामरूप के लुईपाक का उल्लेख हुआ है :-

का आ तरुवर पंच वि डाल
चंचल ची ए पइठो काल ।
दिट करिअ महासुई परिमाण
लुई भणई गुर पुच्छिअ जान ।

स्पष्ट होता है कि लिखित साहित्य के रूप में यह प्राचीन असमिया की अमूल्य धरोहर है।

मध्यकाल ई० 1300–1826 तक है। इस काल-खण्ड में असमिया भाषा का विकास तीन चरणों में सम्पूर्ण हुआ है। यथा, प्राक्-शांकरी काल, शांकरी-काल तथा उत्तर-शांकरी या आहोम साहित्यकाल।

असमिया साहित्य के इस कालखण्ड के मध्यमणि रहे महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव। शांकरी साहित्य के विपुल भण्डार ही असमिया भाषा एवं साहित्य के मेरुदण्ड स्वरूप है।

शंकरदेव के पूर्व अर्थात् प्राक्-शांकरी काल के प्रधान कवियों में हेम सरस्वती; रुद्रकन्दली, हरिहट विप्र, कविरल सरस्वती एव माधवकन्दली के नाम प्रमुख रूप में गिनाये जा सकते हैं । इन कवियों को तत्कालीन राजानुग्रह भी प्राप्त हुआ था। चतुर्दश शताब्दी के हेम सरस्वती को असमिया काव्य-साहित्य का जनक माना जा सकता है । इनके 'प्रह्लाद-चरित' एवं 'हटगौरी सवाद' दो प्रमुख काव्य हैं । माधव-कन्दली को स्वयं शंकरदेव ने 'अप्रमादी कवि' मानकर उनकी महत्ता को ही स्वीकृति दी है ।

प्राक्-शाकरी काल में काव्य की दो विशिष्ट धारायें उपलब्ध होती हैं-नाथ काव्य-धारा एवं मनसा काव्य-धारा । नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ कामरूप थे । इसके अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं 'गोपीचन्द्र मयनामती', 'नागाभर मालिता' जसी लोक-गाथाओं में नाथ-पंथ का पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है । इसी समय मनकर; दुर्गावर, नारायणदेव, कविन्द्र पात्र आदि मनसा काव्यकारों ने असमिया भाषा एवं साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है । असम प्रान्त में साहित्यिक परिवेश तैयार करके शंकरदेव जैसे महान कलाकार को जन्म देने का श्रेय भी प्राक्-शांकरी काल के विविध शाखाओ के कवियों को प्राप्त है ।

श्रीमंत शंकरदेव एवं उनके शिष्य माधवदेव की विपुल कृतियों के कारण वैष्णव साहित्य केवल समृद्ध ही नहीं हुआ है, बल्कि असमिया भाषा साहित्य के विकास को एक नया आयाम प्राप्त हुआ है । काव्य, गीत, भटिमा, अंकिमा नाटकों के द्वारा शंकरदेव तथा माधवदेव ने असमिया साहित्य को राष्ट्रीय मंच प्राप्त कराने का गौरव प्राप्त तो किया ही, साथ ही भारतीय संस्कृति के साथ उसका अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित कराने की दिशा में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है ।

उत्तर-शांकरी-काव्य में राम सरस्वती, श्रीधर कन्थली, रत्नाकर कन्दली आदि वैष्णव कवियों के अतिरिक्त कई चरितकार सामने आये । इस समय महाभारत, पुराण आदि संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद विपुल रूप में हुआ है । सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक तक भट्टदेव ने 'कथा भागवत' 'कथा गीता' आदि ग्रन्थों की रचना गद्य में की । असमिया भाषा का गद्य साहित्य भट्टदेव द्वारा प्रारम्भ होकर आहोम युग के 'बुरंजी साहित्य' के माध्यम से विकसित होता है । 'तुङखुङीमा बुरंजी', 'देओधाऊ बुरंजी', 'त्रिपुरा बुरंजी', 'कछारी बुरंजी', 'कामरूप बुरंजी' आदि कतिपय, समय में प्राप्त असम के इतिहास हैं जो असमिया भाषा के विकास क्रम को संजोये

होता है। वैयक्तिक, सामाजिक एवं आर्थिक मुक्ति के लिए नवीन वर्ग सजग हो रहे हैं और उनके साहित्य में विद्रोह की भावना मुखर हो उठी है। वास्तविक समस्याएं, आशंकाएं, संघर्ष के विविध आयाम आधुनिक काल के काव्य, उपन्यास, कहानी, व्यंग-रचना, आलोचना, नाटक, एकाकी आदि में अंकित हुए हैं। आडम्बर मुक्ति एवं वैज्ञानिक चिन्तन प्रणाली के आधार पर कसौटी निकालने के लिए आधुनिक साहित्यकार आग्रही रहे हैं।

कथ्य और प्रयोग के द्वारा नवकान्त बरुवा, हीरेन भट्टाचार्य, भवेन नरुवा, नीलमणि फुकन आदि आधुनिक कवियों नें असमिया काव्य साहित्य को नयी चेतनाएं प्रदान की हैं। सैयद अब्दुल मलिक, भवेन शइकिया, योगेश दास, अतुलानन्द गोस्वामी, होमेन बरगोहांइ आदि कहानीकार मानवीय समस्याओं के अतिरिक्त आर्थिक सामाजिक विसंगतियों को नये शब्द दे रहे हैं। बीरेन्द्र नाथ भट्टाचार्य, लक्ष्मीनन्दन बरा, देवेन्द्र नाथ आचार्य, त्रैलोक्य भट्टाचार्य आदि पंचम दशक से लेकर आठवें दशक तक के उपन्यासकार भी मानवीय और सामाजिक सन्दर्भो से जुड़े हुए हैं। अरुण शर्मा जैसे साम्प्रतिक काल के नाटककार आधुनिकतम एब्सर्ड नाट्यरूप को असमिया नाट्य रीति में अपनाने में समर्थ हुए हैं। आलोचना साहित्य में डा. वाणीकान्त काकति, डा. बिरिंचि कुमार बरुवा से लेकर साम्प्रतिक काल के डा. महेश्वर नेओग, डा. सत्येन्द्र नाथ शर्मा, त्रैलोक्य नाथ गोस्वामी आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं। इन्होंने वैज्ञानिक रीति से प्राचीन साहित्य-संग्रह एवं सम्पादन का भी अधिक काम किया है। कविता, कहानी, नाटक आदि के अतिरिक्त आधुनिक ज्ञान-विज्ञान विषयक विविध बाल-पुस्तकें, सचित्र पत्रिकाएं भी आधुनिक असमिया साहित्य की अमूल्य निधि हैं। असम साहित्य सभा, असम प्रकाशन परिषद, असम विज्ञान समिति जैसी संस्थाएं असमिया भाषा एवं साहित्य के बहुमुखी विकास के लिए आज भी कार्यरत हैं। इस प्रकार ज्ञान-विज्ञान की नवीन उपलब्धियों के साथ असमिया भाषा का विकास क्रम जारी है, जो एक सक्षम एवं संजीवित भाषा के लिए अत्यावश्यक भी है।

बंगला का उद्भव और विकास

डा॰ अणिमा सिंह

भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार की एक विशिष्ट शाखा का विकास वृहत्तर भारतीय भूमि पर हुआ। विद्वानों ने उस भाषा को भारतीय आर्यभाषा के नाम से आख्यायित किया है। विकास के सहस्राधिक वर्षों की प्रक्रिया में इसे विवर्तन की कई सरणियों को पार करना पड़ा। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का निदर्शन हमें वैदिक भाषा में प्राप्त होता है। मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का परिनिष्ठित स्वरूप पालि-प्राकृत तथा अपभ्रंश के ग्रन्थों में सुरक्षित है। मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं को ही नव्य भारतीय आर्यभाषाओं का उद्गम स्रोत माना गया है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह बात सिद्ध हो चुकी है कि प्रायः सभी नव्य भारतीय आर्यभाषाओं का उद्भव लगभग एक ही काल में हुआ। बंगला, असमिया, उड़िया मैथिली, खड़ी बोली हिन्दी में किसी को भी अपेक्षाकृत अल्प या अधिक प्राचीन नहीं माना जा सकता है। इन भाषाओं में बंगला का विशेष स्थान है। इसका कारण है इसकी भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थिति। बंगाल का अति प्राचीन काल से ही आस्ट्रिक जाति के लोगों के साथ घनिष्ठ संबंध रहा है। विभिन्न कालखण्डों में कई दिशाओं से यहां देशी और विदेशी आर्येतर जातियों का आवागमन होता रहा है। भाषा के भिन्न-भिन्न स्तर इसका साक्ष्य वहन करते हैं। उन सबकी भाषाओं के रूप-तत्वों तथा ध्वनि-तत्वों को वंगभूमि के निवासियों ने उन्मुक्त रूप से ग्रहण किया। आज भी इतर नव्य भारतीय आर्यभाषाओं से बंगला में जो ध्वन्यात्मक पार्थक्य दिखाई पड़ता है उसका यही कारण है। बंगला भाषा सदैव विकासशील रही है। आज भी इसका विकास इसके साहित्य के विवर्धन के साथ ही अबाध गति से हो रहा है। किसी भी भाषा के विश्लेषण और मूल्यांकन के संदर्भ में उस भाषा में रचित साहित्य का महत्व सर्वाधिक होता है। अतएव विश्वभाषा परिवार के प्रसंग में हमें यहां बंगला के साहित्य का सिंहावलोकन करना पड़ेगा।

बंगला का आदि साहित्य हमें बौद्ध-सिद्धों की रचना में प्राप्त होता है। इन

आकाशवाणी कलकत्ता से। फरवरी, 1980 को प्रसारित।

की रचनाएं महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के द्वारा सम्पादित चर्यगीतों में द्रष्टव्य है।

आदि मध्ययुग अथवा प्राक्‌चैतन्ययुग मे सर्वाधिक उल्लेखनीय काव्य है बड़ु-चण्डीदास रचित श्रीकृष्णकीर्तन । पौराणिक कृष्णलीला विषयक कहानी का सूत्र अवलम्बन कर तथा प्रचलित राधाकृष्ण विषयक कहानी पर आधारित इस काव्य में 13 खण्ड हैं। इस ग्रन्थ का काव्य-सौंदर्य और इसके चरित्र-चित्रण में कवि की निपुणता विशेष प्रशंसनीय है । राधा चरित्र सृजन में कवि ने असाधारण कृतित्व दिखलाया है ।

मध्ययुगीन बंगला साहित्य की तीन धाराएं प्रवाहित हुईं–एक, आख्यान मूलक मंगल-काव्य-धारा, जिसमें मनसा मंगल, चण्डीमंगल, धर्ममंगल, और अन्नदामंगल विशेष उल्लेखनीय हैं । दूसरी गीतिकविता अथवा पदावली साहित्य की धारा तथा तीसरी अनुवाद साहित्य की धारा ।

प्राक्‌चैतन्य युग के पदावली साहित्य में दो उल्लेखनीय पदरचयिता हैं-विद्यापति और चंडीदास । मैथिल कोकिल कवि विद्यापति की पदावली ने बंगवासियों को इतना प्रभावित किया है कि उन्हें बंगला साहित्य के अन्तर्गत मान लिया गया है । कुछ आलोचकों ने विद्यापति को "पूर्वभारत का सार्वभौम" कवि माना है । चंडीदास की वैष्णव पदावली के शुचि शुभ्र सौन्दर्य, अध्यात्म सौरभ तथा राधा की प्रणय-वेदना की अपूर्व गीति-व्यंजना से चैतन्यदेव भी मुग्ध थे । विद्यापति के समान शिल्प-चातुर्य उनके पदों में नही है, परन्तु सरल भाषा में आन्तरिक भावनाओ को मर्मस्पर्शी रूप से प्रकाशित करने में ही इनकी विशेषता है ।

15वीं शताब्दी से बंगाल में रामायण, महाभारत तथा भागवत का अनुवाद अत्यन्त जनप्रिय हो गया था । इस आदि मध्य युग में अनुवाद साहित्य में दो शक्तिमान कवि आविर्भूत हुए हैं–एक रामायण-पांचाली रचयिता कृत्तिवास ओझा तथा भागवत के कुछ अंश के अनुवादक मालाधर बसु । महाभारत के अनुवादकों में उल्लेखनीय हैं–कवीन्द्र परमेश्वर तथा श्रीकर नन्दी । श्रीकर नन्दी ने महाभारत के कुछ अंश का अनुवाद किया, किन्तु कवित्व-शक्ति अथवा जनप्रियता की दृष्टि से कृत्तिवास अतुलनीय रहे।

पन्द्रहवी शताब्दी से मंगलकाव्य-धारा का प्रारम्भ हुआ । मंगलकाव्यों की देव-देवियां लौकिक हैं । परवर्तीकाल में आर्यों की देव-देवी की कल्पना के

साथ मंगलकाव्य की देव-देवी की कल्पना को मिला दिया है। मनसामंगल के कई कवि हैं जिनमें प्रथम नाम है हरिदत्त का जिनके विषय में अधिक कुछ कहा नहीं जा सकता। इसके बाद विजय गुप्त का नाम आता है। जिनका 'पद्म पुराण' विशेष जनप्रिय हुआ। विप्रदास की 'मनसा विजय' का नामोल्लेख भी अनुचित नहीं होगा। नारायण देव के 'पद्मापुराण' को लोकजीवन में बड़ा समादर मिला। चरित्र-चित्रण, रस-वैचित्र्य तथा कथा के गुम्फन में उन्होंने विशेष प्रतिभा का परिचय दिया।

सोलहवीं शताब्दी में चैतन्य महाप्रभु के आविर्भाव के फलस्वरूप बंगाल में साहित्य, संस्कृति और धर्म के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई। इस युग के पदकर्त्ताओं में उल्लेखनीय हैं मुरारि गुप्त, नरहरि सरकार, बलराम दास, ज्ञानदास तथा गोविन्द दास आदि। आध्यात्मिक आवेग, सूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना, प्रगाढ़ रसबोध तथा शिल्प चेतना आदि के मिलन से ज्ञानदास और गोविन्ददास के पदों को असाधारण सफलता मिली।

इस युग में चैतन्य-जीवनी-साहित्य की भी रचना हुई। जिनमें वृन्दावनदास रचित 'चैतन्य-भागवत', कृष्णदास कविराज रचित 'चैतन्य चरितामृत', लोचनदास रचित 'चैतन्य मंगल' तथा जयानन्द रचित 'चैतन्य मंगल' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

चैतन्य-परवर्ती युग में चण्डीमंगल काव्य-धारा का सूत्रपात हुआ। इस धारा के उल्लेखनीय कवि हैं—माणिक दत्त, कवि कंकण मुकुन्दराम और द्विज माधवाचार्य जिनमें कवि-प्रतिभा की दृष्टि से मुकुन्दराम ही सर्वश्रेष्ठ हैं। वैष्णव पदावली और चैतन्य जीवनी काव्य को यदि छोड़ दिया जाए तो मध्ययुग में मौलिक प्रतिभा के अधिकारी मुकुन्दराम ही थे। कथा गुम्फन की निपुणता, चरित्र-परिकल्पना रचना सौन्दर्य तथा जीवन के सम्पर्क में यथार्थ दृष्टिकोण पर यदि विचार किया जाए तो उनकी साधारण क्षमता के सम्मुख नतमस्तक होना ही होगा।

सोलहवीं शताब्दी में बंगला साहित्य में नवीन प्राणावेग संचारित हुआ था। परवर्ती शताब्दी में समाज और राष्ट्र-व्यवस्था के क्रमशः ह्रास के फलस्वरूप वह निस्तेज हो गया। इस शताब्दी में मनसा मंगल, चण्डीमंगल, दुर्गा मंगल और धर्ममंगल काव्यों की रचना हुई। इस युग में भी रामायण, महाभारत तथा भागवत का हुआ, जिनमें महाभारतकार काशीराम दास को असाधारण जनप्रियता मध्ययुगीन बंगला काव्य जगत के ये अन्यतम राष्ट्रीय कवि माने जा

पन्द्रहवी शताब्दी से ही मुसलमान कवि बंगला में काव्य रचना करने लगे थे। सत्रहवी शताब्दी में दौलत काजी तथा अलाउल ने काव्य रचना में सुनाम अर्जन किया। दौलत काजी की 'लोर चन्द्रानी' तथा अलाउल का 'पद्मावती' काव्य विशेष उल्लेखनीय है।

अठारहवी शताब्दी सांस्कृतिक ह्रास का युग है। साहित्य-क्षेत्र में पुरानी चली आती हुई धारा का ही पिष्टपेषण हो रहा था। इसके व्यतिक्रम के रूप में शाक्त पदावली का नामोल्लेख किया जा सकता है। इन पदों के वात्सल्य चित्रण, माधुर्य तथा भक्ति रस से आज भी पाठक अनुरंजित होते हैं। इस धारा के कवियों में राम प्रसाद सेन तथा कमलाकान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसी शताब्दी में धर्ममंगल काव्य-धारा के श्रेष्ठ कवि घनराम चक्रवर्ती का अविर्भाव हुआ। अन्नदामंगल काव्य-धारा में अष्टादश शतक के श्रेष्ठ कवि रायगुणाकर भारतचन्द्र को अभूतपूर्व यश प्राप्त हुआ जिनकी मार्जित रुचि, पांडित्य, वाक्वैदग्ध्य तथा रसबोध प्रशंसनीय हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उन के अन्नदामंगल की तुलना अपूर्व कारुकार्य भूषित एवं प्रभामय राजकंठ की मणिमाला से की है।

विद्वानों को प्राचीन और मध्ययुगीन बंगला साहित्य की इस विशाल धारा की कुछ वस्तुएं विशेष खटकती हैं। उन में प्रमुख है देव-निर्भरता, इतिहास-चेतना और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का अभाव तथा गद्य-साहित्य का अनस्तित्व।

उन्नीसवी शताब्दी में पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति के सम्पर्क के फलस्वरूप बंग-मानस में नव जागरण हुआ। इसी युग में मुद्रण-यंत्र का आविष्कार हुआ, गद्य-साहित्य का विकास हुआ तथा दैव-निर्भरता को त्याग कर मानवतावाद की प्रतिष्ठा हुई। इस युग में मुक्त बुद्धि का जागरण हुआ, ज्ञान का प्रसार हुआ तथा मध्ययुगीन संकीर्णता के स्थान पर सर्वतोमुखी चेतना की प्रगति हुई। इस चेतना-प्रसार के पीछे सर्वाधिक और सर्वप्रथम योगदान है राजा राममोहन राय का।

इसी शताब्दी के प्रथमार्द्ध में फोर्ट विलियम कालेज और श्री रामपुर मिशन की स्थापना हुई जहां विविध सामयिक पत्रों के द्वारा गद्य साहित्य की समृद्धि हुई। इस युग के गद्य साहित्यकारों में उल्लेखनीय हैं मृत्युंजय विद्यालंकार, राजा राममोहन राय और ईश्वर चन्द्र विद्यासागर। काव्य के क्षेत्र में कविगान और पांचाली आदि के युग को छोड़ कर आधुनिकता की सीमा में पांव रखने वालों में प्रमुख हैं कवि ईश्वर गुप्त, ... युग के सन्धिक्षण के कवि के रूप में अभिहित किया जा सकता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से सृजनशील साहित्य के स्वर्णयुग का आरम्भ होता है। उपन्यास, नाटक, निबन्ध, महाकाव्य, गीतिकाव्य आदि विभिन्न विधाओं के माध्यम से बंगला का साहित्य-क्षेत्र पुष्पित-पल्लवित हो उठा। काव्य-क्षेत्र में रंगलाल बन्द्योपाध्याय ने आधुनिकता का नान्दीपाठ किया। माईकेल मधुसूदन दत्त की कविता में आधुनिकता का पूर्ण प्रकाश पाया जाता है।

उनकी रचनाओं में तिलोत्तमा संभव, मेघनाथवध, वीरांगना काव्य, ब्रजांगना काव्य आदि विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। 'मेघनाथ वध' काव्य में माईकेल की प्रतिमा का चरम विकास हुआ है। सन् 1838 ई. में हेमचन्द्र वंद्योपाध्याय का आविर्भाव हुआ। इनकी रचनाओं में चिन्ता तरंगिनी, वृत्रसंहार, आशाकानन, दशमहाविद्या आदि काव्य विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। इन में से 'वृत्रसंहार' नामक महाकाव्य बहुत जनप्रिय हुआ। इसके बाद उल्लेखनीय कवि हैं नवीन चन्द्र सेन। इनकी रचनाओं में 'पलाशीर युद्ध' तथा 'महाकाव्यत्रयी रैवतक-कुरुक्षेत्र-प्रभास' सुविख्यात हैं। सन् 1835 ई. में आधुनिक बंगला गीतिकाव्य के जनक बिहारी लाल चक्रवर्ती का आविर्भाव हुआ। इनकी रुमानी चेतना के कारण इन्हें शेली, कीट्स, और वर्डसवर्थ की श्रेणी में गिना जाता है। इनके काव्यों में उल्लेख्य हैं संगीतशतक, निसर्ग सन्दशन, प्रेमप्रवाहिनी, बंगसुन्दरी काव्य आदि। इनके परवर्ती कवियों में सुरेन्द्रनाथ मजूमदार, अक्षय बडाल, देवेन्द्र नाथ सेन, कामिनी राय तथा स्वर्णकुमारी देवी प्रमुख हैं।

बंगला-गद्य-साहित्य में अक्षयकुमार दत्त, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, भूदेव मुखोपाध्याय, बंकिम चटर्जी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शरत चन्द्र चट्टोपाध्याय आदि प्रमुख साहित्यकार हैं। बंगला नाटक क्षेत्र में रामनारायण तर्करत्न, माईकेल मधुसूदन, दीनबंधु मित्र जैसे नाटककारों के बाद ही गिरीशचन्द्र घोष, अमृतलाल बसु, द्विजेन्द्र लाल राय की सशक्त लेखनी से अनेक नाटकों की सृष्टि होने लगी। इस धारा को रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने आगे बढाया। बंगला उपन्यासों में प्यारी चांद मित्र के 'आलालेट घटेर दुलाल' उपन्यास के बाद से यह विधा क्रमशः विकसित होती गयी, जिसकी पूण सिद्धी बंकिम चन्द्र की रचनाओं में दिखाई पड़ती है। उन्होंने 98 उत्कृष्ट उपन्यासों की रचना की। बंकिम के बाद उपन्यास लेखकों की एक परम्परा सी चल पड़ी। रमेशचन्द्र दत्त, संजीवचन्द्र चट्टोपाध्याय, तारकनाथ गंगोपाध्याय, शिवनाथ शास्त्री, त्रैलोकमनाथ मुखोपाध्याय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरत चन्द्र चट्टोपाध्याय को उपन्यासकारों म प्रमख माना गया। रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों का शिल्प-सौंदर्य, आंगिक-वैचित्य, काव्यगुण और आधुनिकता उल्लेखनीय हैं। बंगला कहानी-साहित्य

के जनक के रूप में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का ही नाम लिया जाता है। बाद में प्रभात कुमार मुखोपाध्याय और शरतचन्द्र जैसे कलम के धनियों का आविर्भाव हुआ, जिनके द्वारा कथा-साहित्य का चरम विकास हुआ। शरतचन्द्र ने तो अपने उपन्यासों के द्वारा बंगाल की मूक नारियों की मनोव्यथा को अंकित कर पाठकों को कुछ सोचने के लिए बाध्य कर दिया।

रवीन्द्र नाथ ठाकुर के कविकृत्य की विशालता, व्याप्ति तथा वैविध्य सचमुच विस्मयकारी है। कवि ने किशोरावस्था में जिस लेखनी को धारण किया, उसकी अनवरत गति 81 वर्ष तक चलती रही। उनके असंख्य काव्य ग्रन्थों में उल्लेखनीय हैं सन्ध्या संगीत, प्रभात संगीत, कविओं गान, कडि ओ कोमल, मानसी, सोनार तरी, चित्रा, चैताली, क्षणिका, खेया, गीतांजलि, और बलाका। गीतांजलि के लिए उन्हें नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। 'शेष लेखा' कवि का अन्तिम काव्यग्रन्थ है। नाटक के क्षेत्र में कविगुरु ने नाना प्रकार के प्रयोग किए। उनके गीतिनाट्यों में वाल्मीकि प्रतिभा, कायार खेला, प्रकृतिर प्रतिशोध सुविख्यात हैं। नाट्यकाव्यों में उल्लेखनीय हैं—राजाओ रानी, विसर्जन, मालिनी आदि। काव्यनाट्यों में प्रसिद्ध हैं गान्धारीर आवेदन, कर्णकुन्ती-संवाद आदि। उनके रूपक अथवा सांकेतिक नाटकों में प्रख्यात हैं डाकघर, राजा, अचलायतन, फाल्गुनी, मुक्तधारा, रक्तकरबी आदि। सामाजिक नाटक के रूप में प्रसिद्ध हैं शेषरक्षा, गृहप्रवेश, बांसरी, चिरकुमार सभा आदि उनके नृत्यनाटक में शापमोचन, मायार खेला, तासेर देश, नटीर पूजा, चित्रांगदा, चंडालिका आदि उल्लेखनीय हैं। कविगुरु ने बहुत सी कहानियों की रचना की है जो गल्पगुच्छ के नाम से प्रकाशित हुई। उपन्यास-रचयिता के रूप में भी ये पीछे नहीं हैं। बउ ठाकुरानी हाट, राजर्षि, चोखेर बालि, नौकाडूबी, गोरा, चतुरंग, घरेबाइरे, योगायोग, शेषेर कविता, चार अध्याय, मालच आदि उन के उपन्यास हैं।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में ही काजी नजरुल इसलाम ने विद्रोही कवि के रूप में ख्याति अर्जित की। केवल 23 वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'अग्निवीणा' नामक काव्य-संग्रह प्रकाशित कराया, जिसने उन्हें बंगला पाठकों के हृदय का सम्राट बना दिया। इनकी वाणी ने असंख्य युवकों के हृदय में राष्ट्र-चेतना का संचार किया।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में साहित्य-क्षेत्र में नयी चिन्तन-धारा का उन्मेष हुआ। दो विश्व-युद्धों का प्रभाव, विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी, बेकारी की समस्या और देशव्यापी मानसिक अस्थिरता इत्यादि के प्रभाव से साहित्य-क्षेत्र के प्राचीन

मूल्यबोध में विपर्यय दिखाई पड़ने लगा। उपन्यास और कहानियों में बुद्धिदीप्त जीवन विश्लेषण, फ़ायड की मनोवैज्ञानिकता, मार्क्सवादी चेतना आदि प्रतिफलित होने लगी। इस सन्धि-क्षण में कुछ लोग पुरानी धारा में लिखते रहे और कुछ लोगों ने विद्रोही मतवाद को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। काव्य के क्षेत्र में एक ओर रवीन्द्रानुयायी कवि-समाज या जिनमें यतीन बागची, करुणानिधान बन्द्योपाध्याय, कालिदास राय आदि प्रमुख थे। दूसरी ओर मोहितलाल मजुमदार और यतीत सेनगुप्त जैसे साहित्यकारों की रचनाओं में विद्रोह का स्वर सुनाई पड़ रहा था। इस युग के नवीन और श्रेष्ठ साहित्यकारों में बुद्धदेव बसु, जीवनानन्द दास, विष्णु दे, सुधीन्द्रनाथ दत्त और अमिय चक्रवर्ती का उल्लेख किया जा सकता है।

आधुनिक युग के उपन्यासकारों में उल्लेखनीय नाम हैं–अचिन्त्यकुमार सेनगुप्त, बुद्धदेव बसु, शैलजानन्द, अन्नदाशंकर राय, विभूतिभूषण बन्द्योपाध्याय, विभूति भूषण मुखोपाध्याय, ताराशंकर बन्द्योपाध्याय और माणिक बन्द्योपाध्याय। निबन्ध जगत के उल्लेखनीय व्यक्ति हैं–अवनीन्द्र नाथ ठाकुर, रामेन्द्र सुन्दर त्रिवेदी, प्रमथ चौधरी, बुद्ध देव बसु, विष्णु दे तथा सुधीन्द्रनाथ दत्त। वर्तमान युग में बंगला नाटय-कला की बहुत उन्नति हुई है। नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। इधर देशी और विदेशी साहित्य के श्रेष्ठ ग्रन्थों का बंगला में अनुवाद हो रहा है। बंगला के आगर ग्रन्थ अन्य भाषाओं के माध्यम से प्रसारित हो रहे हैं। प्रायः सभी विधाओं में प्रतिभाशील रचयिता भाषा का श्रृंगार करने में संलग्न हैं। अतएव बंगला का भविष्य अनेकानेक उज्जवल संभावनाओं से संवलित है।

गुजराती भाषा का उद्भव और विकास

–डा० भोला भाई पटेल

"बांधु नागदमण गुजराती भाषा" यानी 'नागदमण' को गुजराती भाषा में लिख रहा हूं–सत्रहवी शताब्दी के प्रसिद्ध गुजराती कवि प्रेमानन्द की इस उक्ति में प्रथम बार गुजरात प्रदेश की भाषा के लिए 'गुजराती' संज्ञा का व्यवहार हुआ है। इसके पहले पन्द्रहवी शती के कवि भालण ने 'भाषा' या 'गुर्जर भाषा' संज्ञा का व्यवहार किया है। कवि पदमनाथ और अखा ने सत्रहवीं शती के पूर्वार्ध में गुजराती भाषा के लिए 'प्राकृत' संज्ञा का व्यवहार किया था।

गुजराती संज्ञा के मूल में गुजरात है, जो एक प्रदेश विशेष है। यह गुजरात नाम भी करीब छः सौ वर्ष पुराना है। इसके पहले गुर्जरत्रा, गुर्जरत्रामण्डल, गुर्जर, गुज्जर देश इत्यादि नामों से इस भू भाग को जाना जाता था। इस प्रदेश में आकर बसने वाली शकों की एक उपजाति गुर्जर नाम से जानी जाती थी जो पांचवीं या छठी शताब्दी में यहां आकर बस गई होगी।

हिन्दी, मराठी या बंगला की तरह गुजराती भी भारतीय आर्यकुल की एक मुख्य भाषा है। उत्तर में कच्छ और मेवाड़-मारवाड़, दक्षिण में महाराष्ट्र का थाना जिला, पश्चिम में अरब सागर तथा पूर्व में मालवा खानदेश इस भाषा का सीमा विस्तार है। आज गुजराती भाषा बोलने वालों की संख्या करीब दो करोड़ पचहत्तर लाख है।

गुजराती भाषा का कुल-क्रम यदि देखना चाहें तो वह भारतीय आर्य भाषा के प्राचीन भारतीय आर्य, मध्य भारतीय आर्य और नव्य भारतीय आर्य ऐसे तीन सोपानो में तीसरे सोपान की भाषा है। पहले सोपान में वैदिक भाषा, संस्कृत आदि आती हैं, दूसरे सोपान में पाली, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएं आती है, तथा तीसरे सोपान में आधुनिक भारतीय भाषाएं आती हैं। इस प्रकार आधुनिक भारतीय भाषाओं की तरह गुजराती भी अपभ्रंश से निकली हैं। हेमचन्द्राचार्य ने अपने 'सिद्ध हैम' ग्रन्थ में जिन अपभ्रंश भाषाओं को उद्धृत किया है, उसको ग्रियर्सन ने प्राचीन गुजराती माना है, सुनीति कुमार चटर्जी उनको पश्चिमी हिन्दी के निकट की भाषा मानते हैं।

आकाशवाणी अहमदाबाद से 14 मार्च, 1980 को प्रसारित।

लेकिन ऐसा कह सकते हैं कि यह भाषा गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी की भी पूर्वज है। एक उदाहरण देखें :

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कन्तु
लज्जेजं तु वयंसिअहु जई भग्गा घर एन्तु।

इस अपभ्रंश को हेम चन्द्र ने शौरसेनी अपभ्रंश कहा है, जिसका मूल शौरसेनी प्राकृत में है। प्रदेश भेद के अनुसार बोली भेद होते गये। विद्वानों ने व्रजप्रदेश की अपभ्रंश को आभीर, राजस्थानी अपभ्रंश को मारु और गुजराती अपभ्रंश को नागर या गौर्जर ऐसे विशेषणों से अभिहित किया है। एक हजार ईसवी में अवन्ती-पति भोजदेव ने सरस्वती कण्ठाकरण में ऐसा निर्देश किया है।

अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जरा; गुर्जर अपनी अपभ्रंश से ही तुष्ट होते हैं। फिर भी अपभ्रंश का स्वरूप मथुरा से लेकर द्वारका तक करीब एक-सा था। राज-स्थानी के अभ्यासी डा. तेस्सितोरी उसे पुरानी पश्चिमी राजस्थानी 'ओल्ड वेस्टर्न राजस्थानी' कहते हैं। श्री उमाशंकर जोशी ने उसके लिए 'मारुगुर्जर' नाम सूचित किया है। गुजराती का उद्‌भव इस अपभ्रंश से हुआ है।

लेकिन प्रश्न यह है कि अपभ्रंश और गुजराती की विभाजन रेखा कब से मानी जाय। डा. प्रबोध पंडित जैसे भाषातत्वविद् का कहना है कि ध्वनि स्वरूप तथा व्याकरण की दृष्टि से ग्यारहवीं-बारहवीं शती से गुजराती का आरम्भ हुआ है। वे पिछले एक हजार वर्ष को गुजराती भाषा के इतिहास का विस्तार मानते हैं।

इस हजार वर्ष के विस्तार को गुजराती भाषा के विकास क्रम की दृष्टि से तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) ग्यारहवी शताब्दी से चौदहवी शताब्दी तक, प्राचीन गुजराती

(2) पंद्रहवीं शताब्दी से सतरहवीं शताब्दी तक, मध्य गुजराती

(3) अठारहवीं शताब्दी से अर्वाचीन गुजराती।

गुजराती के लिए यह सौभाग्य की बात है कि इस भाषा का जैन भण्डारों की व्यवस्था की वजह से क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध होता है। प्राचीन गुजराती भाषा की कृतियां भी हमें मिलती हैं।

डॉ. हरिवल्लभ भायाणी जैसे प्राकृत अपभ्रंश और पुरानी गुजराती के विद्वा प्राचीन गुजराती भाषा की आरम्भ की कृतियों में वज्रसेन कृत 'भरतेश्वर बाहुबर घोर' (करीब 1169 ईस्वी) शालिभद्र कृत 'भरतेश्वर बाहुबली रास' (करी 1185 ईस्वी) जैसी रचनाओं को गिनते हैं। ये प्राचीनतम कृतियां जैन कवियों व हैं। डा. भायाणी का कहना है कि बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्राचीन गुजरा साहित्यिक भाषा के रूप में व्यवहृत होने लगी थी। इस समय की भाषा का ए उदाहरण वज्रसेन के 'भरतेश्वर बाहुबली घोर' से उद्धृत करता हूं। पंक्तिः में भरतेश्वर के सैन्य की कूच का वर्णन है :

गुलगुलंत चालिया हाथि ने गिरिवंट जंगमं।
हिंसारवि जहिरियं दियंत हल्लिय तुरंगमं।
घर डोलइं खलभलइ सेनु दिणियरु छाइज्जई।
भर हेसह चालियउ, कटकि कसु उपम दीजई।।

इस प्राचीन गुजराती में अपभ्रंश का प्रभाव लक्षित होता है। इसमें मध्य गुजराती में आने की विकास प्रक्रिया में ध्वनि और व्याकरण की दृष्टि से परिवर्तन होने लगते हैं। डा. प्रबोध पंडित के मतानुसार ध्वनि की दृष्टि से प्रथम परिवर्तन ह्रस्व 'इ' और 'उ' का 'अ' में विलीकरण है। इस ह्रस्व स्वनिम (फोनिम) के विलीकरण के साथ दो नये स्वनिम आते हैं–'ऍ' और 'ऑ'। ह्रस्व इ, उ के परिवतन के सन्दर्भ में उदाहरण देखें। 'देव' शब्द का प्रथम द्वितीय विभक्ति रूप 'देवु' होता था, उसमें से 'देव' हो गया वगैरह। ऐसे तो अनेक परिवर्तन होते हैं। मध्यकाल की गुजराती में अनेक जैन व सन्त कवियों की रचनाएं पाते हैं। इस समय के मुस्लिम शासन का प्रभाव भी गुजराती भाषा पर लक्षित होता है। विशेष कर अरबी-फारसी का एक दूरगामी असर है। सत्रहवीं शताब्दी के कवि प्रेमानंद में आकर गुजराती भाषा आज के अपने रूप को स्थिर करती नजर आती है।

पश्चिम के संपर्क में आने के बाद अंग्रेजी भाषा के प्रभाव ने गुजराती भाषा की इमारत को नया रूप दिया। सिर्फ शब्द-समूह ही नहीं, वाक्य-रचना, आदि पर भी उसका प्रभाव हुआ है। बुद्धि और तर्क के भार को वहन करने वाले गद्य का भी विकास हुआ। शिक्षा साहित्य और सांस्कृतिक प्रयोजनों के लिए व्यवहृत गुजराती भाषा 'शिष्ट' गुजराती के रूप में विकसित हुई है। अब यह आवश्यक है कि गुजराती का उच्चारण, व्याकरण और शब्द प्रयोग में परिनिष्ठित मानक रूप शीघ्र ही स्थापित हो।

मराठी भाषा की उत्पत्ति और विकास

–डा० प्रभाकर माचवे

किसी भी भाषा की उत्पति और विकास जानने के लिए हमारे पास साधन हैं–शिलालेख, ताम्रपट, प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ। संस्कृत भाषा से टूटकर या उसमें प्राकृत भाषाओं को मिश्रित कर, या संस्कृत के विरोध में जो देशी भाषाएं ग्यारहवीं बारहवीं शती में उत्तर भारत में उत्पन्न हुईं उन्हीं में एक थी मराठी। मराठी संतकवि एकनाथ ने तो यहां तक कह दिया–"संस्कृत वाणी देवें केली। तरी प्राकृत काय-चोरापासोनि आली" अर्थात् संस्कृतवाणी अगर देवताओं ने बनाई है तो प्राकृत क्या-चोरों से आई है? महानुभाव कवि चक्रधर ने अपने 'उद्धरण' में कहा कि ऐसी भाषा में बात करो जो सब की समझ मे आये। संस्कृत तो बुढ़ियाओं के समझ में नहीं आयेगी। संत ज्ञानेश्वर ने तो बहुत ही अच्छी उपमा दी कि "संस्कृत के गहन तौर तोड़ कर मराठी शब्द के सोपान या घाट बनाइये।"

संस्कृत के बाद महाराष्ट्री प्राकृत, उसके बाद महाराष्ट्री अपभ्रंश और उससे मराठी भाषा बनी। पहले संस्कृत थी या प्राकृत यह भाषाशास्त्रियों में पुराना झगड़ा है। हेमचन्द्र सूरी, मार्कंडेय आदि प्राकृत की मूल प्रकृति संस्कृत मानते हैं। उलटे नेमिसाधु प्राकृत को जनसाधारण की भाषा बताते है। 'गडडवहो' के वाक्पतिराज तो कहते हैं कि सारा पानी समुद्र से निकलकर फिर समुद्र में चला जाता है, उसी तरह से सब भाषाएं प्राकृत से निकली और वहीं जाती हैं। वररुचि ने ईसापूर्व 250 में 'प्राकृत प्रकाश' में जो चार प्राकृतें गिनायी उनमें महाराष्ट्री प्रमुख थी। दंडी महाराष्ट्र देश तक उसे सीमित मानते हैं। डा राजवली पाडेय ने हिन्दी साहित्य के वृहत् इतिहास के प्रथम खण्ड में लिखा "महाराष्ट्री प्राकृत उस काल मे समस्त आविध्य-, हिमाचल भारत की राष्ट्र भाषा सी मानी जा सकती है, महाराष्ट्री 600 ईसापूर्व से रही होगी।

'अपभ्रंश' शब्द का पहला उल्लेख ईसापूर्व दूसरी सदी में पातजल महाभाष्य में मिलता है—संस्कृत साधु भाषा, अपभ्रंश अपशब्द। स्वयम्भू अपभ्रंश को 'देशी'

आकाशवाणी से 26 अक्तूबर, 1979 को प्रसारित।

भाषा कहते हैं। विद्यापति ने "देसिल बयना सब सयं मिट्ठा" कहा है। विभिन्न प्राकृतों के अपभ्रंश में से करीब दसवीं शती में मराठी, हिन्दी, गुजराती आदि आज की भारतीय आर्यभाषा कही जाने वाली आधुनिक भाषाओं का उदय हुआ। ज्ञानेश्वर भी 'मराठी' को कई जगह देशी कहते हैं। 'मराठी भाषा और वाड० मयाचा इतिहास' लिखने वाले एस. बा. आ. भिडे ने भारत में भाषा परिवर्तन के पांच पड़ाव माने हैं:–

(1) वैदिक वाणी की परिणति होकर पाणिनि की मानक संस्कृत का बनना प्रथम उ क्रांति है।

(2) उत्तर भारत में बौद्धों के कारण पाली द्रविड़ भाषाओं की सीमा तक पहुंची, मराठी में पाली का बहुत प्रभाव है।

(3) हिन्दू और जैन अन्य प्राकृतों का विकास करते रहे।

(4) अपभ्रंश प्राकृत भाषाए शिष्टसम्मत भाषाएं वनी, उनमें ग्रन्थ-रचना हुई।

(5) दसवीं शती में अर्वाचीन देशी भाषाएं अपभ्रंश में से निकल कर शिलालेखों में आनी शुरू हुई।

संस्कृत धीरे-धीरे पुरोहित वर्ग की भाषा बनने लगी थी। शूद्र और स्त्रियों के लिये वह बंद थी। "न स्त्री शूद्र धीयते।" मराठी भाषा की नाम विभक्तिया अपभ्रंश से उसने ली और आख्यात विभक्तियां क्रिया आदि महाराष्ट्री प्राकृत से लिये। आठ सौ ईसवी पहले की यादव मराठी में तत्सम शब्द 23 प्रतिशत हैं। बाद में इनकी संख्या बढने लगी परन्तु मराठी में सिर्फ संस्कृत के ही शब्द नही आये, उत्तर और दक्षिण के बीच में इस भाषा के बोलने वाले रहते थे और प्रवास भी करते थे। इसलिये मराठी में कन्नड़, तमिल, तेलुगु, नंद, फारसी, ग्रीक आदि भाषाओं के शब्द भी आने लगे। सब से अधिक शब्द कन्नड़ से लिये गये। इसका अपप, तुप्प, उप्पीसट, पंच, पिलू आदि द्रविड़ भाषा के शब्द हैं। हाल में मद्रास के विश्वनाथ खैरे महाशय ने मराठी में तमिल शब्दो के आयात पर बड़ा अच्छा शोधकार्य किया है। प्राचीन मराठी में जोतडी, निसाण, माल्कर्क, पेरोज, तेजी, सका, खात, सुलतान, तुरुक फारसी के शब्द हैं। सेवैया, दाम और यवन तीन ग्रीक शब्द भी हैं। मुक, उदासु अंगुक नंद भाषा के शब्द हैं। बाद में शिवाजी के समय तक आते-आते मराठी में फारसी के शब्दों की संख्या बहुत बढ़ गई। महाराष्ट्र शब्दकोष में एक लाख 12 हजार शब्द हैं जिनमें 3000 अरबी-

फारसी के हैं। 1500 यूरोपीय भाषाओं के–अंग्रेजी के 560। इसके विरोध में बीसवीं सदी में सावरकर ने भाषा-शुद्धि आन्दोलन शुरू किया था। डा. ग. वा. तगारे दसवीं सदी मे अपभ्रंश के कवि पुष्फदत (पुष्पदंत) को प्राचीन मराठी कवि मानते हैं। महा-पुराण में कई मराठी शब्द यही दर्शाते हैं कि अपभ्रंश और प्राचीन मराठी का संबंध बहुत निकट का था।

मैसूर राज्य के श्रवण बेलगोल के गोमटेश्वर पुतले के पैरों के पास–श्री चामुंडरायें करवियलें और श्री गंगराज सुत्ताले करवियले–दो पंक्तियां खुदी हुई हैं। पहली सन् 983 और दूसरी सन् 1117 की है। डा. तुलपुले इसे पहला मराठी शिलालेख नही मानते। वे केशिदेव शिलाहार के शिलालेख को मानते हैं जो 1062 का है। चूंकि इस शिलालेख पर काल का भी उल्लेख साथ-साथ है। डा. तुलपुले की एक पूरी किताब प्राचीन मराठी शिलालेखों की है। उसके अनुसार ग्याहरवीं से तेरहवी ईसवी तक आज की मराठी की नीव पुख्ता रूप से पड़ चुकी थी।

सन् 1039 के समय श्रीपति ने सस्कृत रत्नमाला लिखी। उस पर सन् 1447 मे नकल की हुई एक मराठी टीका मिलती है। वह त्रुटित थी। सन् 1643 में लिखी ज्योतिष रत्न की एक पूरी प्रति मिली, डा. पानसे ने जिसका संपादन अंग्रेजी में किया। इस दशवें शतक के मराठी आदिग्रन्थ में भाषा का सुनिश्चित रूप मिल जाता है। 1129 का एक संस्कृत ग्रन्थ मानसोल्लास उर्फ अभिलाषितार्थ चिन्तामणि मिलता है जिसमें कई मराठी शब्द पाये जाते हैं। ग्यारहवी शती के उत्तरार्ध में यशचंद नामक जैन पंडित ने एक 'राजीमती प्रबोध' नामक संस्कृत नाटक रचा। उसके रूप का वणन 'महाराष्ट्रिक' इस भाषा में करते हैं–"चतुरांगुलाचो जीहा भी कोई सांधओं गोमती मुह फाफट निलाड चापुट।" अखण्ड माली ताहीची।" वीणी काली. न छोटी न मोटी। वानि चापाहूली नाही कोहि ताहि तूली" इत्यादि।

बारहवी शती के एक तेलुगु काव्य में गुंफित एक मराठी पद्य उलब्ध हुआ है। डा. सो. नाराण राव ने 'जनरल आफ दि आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी' के 1938 के अंक में इस पद्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। सोमनाथ, महाराष्ट्र को 'आरे देश' कहता है। मतलब यह है कि ग्याहरवी और बारहवी सदी में गुजरात और आन्ध्र प्रान्त में मराठी परिचित थी। होयसाल मन्त्री पेरुमाल ने मलोगी में एक विद्यालय 1290 में स्थापित किया जहां नागर, कन्नड, तेलगु, आर्य भाषा (यानी मराठी) पढ़ाने की व्यवस्था थी।

इसी प्रकार से खोज करने वालों ने ईसा की सातवीं शती से मराठी शब्द ताम्र-पत्रों में खोज निकाले हैं पर कोई प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। डा. भंडारकर आधुनिक देशी भाषाओं का उद्‌गम और विकास दसवीं सदी से मानते हैं। ईसा की ग्यारहवीं सदी में इस भाषा में ग्रन्थ-रचना होने लगी थी, कात्यायन के वार्तिक में दूसरी ईसवी में, प्राकृत भाषाओं का उल्लेख आता है पर उनके ग्रन्थ-निविष्ट बनने में दसवीं सदी तक समय बीत जाता है। महाराष्ट्र ज्ञान कोशाकार स्वर्गीय डा. श्रीधर व्यंकटेश केतकर के अनुसार "मराठी की उत्पत्ति सातवी सदी में हुई पर ग्रंथ रूप में परिनिष्ठित भाषा बनने में उसके पांच शतक बीत गये।"

मराठी का अत्यन्त उत्कृष्ट रूप सत ज्ञानेश्वर की 1290 में लिखी 'ज्ञानेश्वरी' नामक श्रीमदभगवद्‌गीता की टीका में देखने को मिलता है। यहां मराठी, संस्कृत की सर्वोत्तम निधियों को अपने में संजोकर अपने सही रूप में प्रकट हुई है।

एक विवाद नाम का भी है। महाराष्ट्री, मरहठ भाषा, मरहाटी, मराठी—य चार नाम हैं। जिनमें से आजकल मराठी चलती है। 778 ईस्वी में कुवलयमाला के लेखक उद्‌धयोतनसूरि मरहट शब्द देश और भाषा दोनों के लिए प्रयुक्त करते थे। मोलस्वर्थ कोष के भूमिका लेखक विल्सन महाराष्ट्र को महारों का राष्ट्र बताते थे। ओपर्ट इसे मल्ल राष्ट्र कहता था, उसी मल्ल से मार बना। डा. भंडारकर के अनुसार जैसे राष्ट्र से राष्ट्रिक शब्द बना है वैसे ही मल्ल (मार) राष्ट्रिक से, माराठी या मराठी शब्द बना होगा। राजा रामशास्त्री भागवत ने "मरकर हटा, वही मरहटा" ऐसी व्युत्पत्ति दी है। महामहोपाध्याय काणे "महत् राष्ट्र महाराष्ट्र" का आधार लेकर महानराष्ट्र व्युत्पति बताते हैं। पाणिनि से पहले आर्यों का दक्षिण से जो संबंध था उसमें विदर्भ और उपरान्त (समुद्र तट) से अधिक संबंध नहीं था। बीच में तापी से कृष्णा नदी तक के सारे छोटे जिले एकजुट हुए और महाराष्ट्र बन गया।

यह जो भी हो, अब इसे मराठी भाषा कहते हैं और हिन्दी और तेलुगु के बाद यह करीब चार करोड़ लोगों की बोलचाल की भाषा, है। इसमें साक्षरता का प्रमाण काफी है और अखबार, पत्र-पत्रिकायें और पुस्तकें बड़ी मात्रा में छपती और बिकती हैं। मराठी में कई भाषाओं के कोश हैं और कई भाषाओं ने इस भाषा से शब्द अपनाये हैं। मराठी संस्कृतनिष्ठ बनाई गई है, उसे लेकर विवाद चल पड़ा है। पु. ल. देशपांडे नामक प्रसिद्ध नाटककार ने कहा है कि किसान को पहले संस्कृत फिर अंग्रेजी आये तो यह नई मराठी पढे। पर बड़े पैमाने पर जो विदेशी शब्द हमारी

भाषाओ में आते जा रहे हैं उन्हें किस सीमा तक अपनाया जाये, यह प्रश्न है। मलयालम के स्वर्गीय जोसेफ मुंडेशरी ने सारे अंग्रेजी शब्द मलयालम में आत्मसात कर लेने को कहा था। "भाषा बहता नीर है" और इसमें रूप-परिवतन, शैली-परिवर्तन होता ही रहता है।

मराठी नामक यह सरिता विगत सात-आठ सदियों में अब बहुत विस्तृत और विशाल हो गई है। वह भारत से बाहर भी पढ़ाई जाती है। इसके लिये जूल बलोक जैसे फ्रेंच, सोनथईगमर जैसे जर्मन, रेसाइड जैसे ब्रिटिश, कात्याना जैसी रूसी विदुषी काफी कार्य कर चुके हैं और कर रहे हैं। हमारे देश में भी ज्ञानेश्वरी का बंगाली में अनुवाद करने वाले सेन महोदय मलयालम में मराठी से अनुवाद करने वाले शंपद्रि और तमिल में मराठी से अनुवाद करने वाले का श्री श्रीनीवासचारी जैसे अनेक बहुभाषी हैं। हिन्दी में मराठी सिखाने वाले स्वय-शिक्षक, कोष और व्याकरणग्रंथ भी है। कई केन्द्रीय विश्वविद्यालयों यथा दिल्ली, वाराणसी, विश्वभारती, आदि में मराठी भाषा सीखने की भी सुविधायें हैं। परन्तु खेद है कि बहुत कम लोग इसका लाभ उठाते हैं। मराठी से हिन्दी में लिखने वाले, अनुवाद करने वाले, शोधप्रबन्ध लिखने वाले, पत्रकार, नाटककार, कवि कथाकार आदि तो कम से कम एक सौ से अधिक होंगे। ऐसी भाषा की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन करने से तुलनात्मक अध्ययन करने की प्रवृत्ति भारतीय भाषाओ के अध्येताओं में बढ़ेगी, ऐसी आशा है।

तत्पश्चात् पाली और प्राकृत भाषाओं के माध्यम से संस्कृत भाषा का प्रभाव हुआ। छठी ईस्वी सदी के आरम्भ से सिन्ध की भाषा अधिकांशतः आर्यभाषा का स्वरूप ग्रहण कर चुकी थी। दूसरे विद्वान सिराज अल्-हक्क भी 'मुअनि जोदड़ो' की भाषा से आधुनिक सिन्धी का उद्भव मानते हैं। परन्तु उनके मतानुसार 'मुअनि जोदड़ो' की यह भाषा प्राचीनतम भारतीय आर्यभाषा थी और इसी से ही वैदिक संस्कृत, प्राकृत तथा अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का विकास हुआ, जिन में आधुनिक सिन्धी भी एक है। प्रोफेसर गुलाम अली अलाना ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि 'मुअनि जोदड़ो' की भाषा द्राविड़ परिवार की कोई प्राचीनतम भाषा थी जिसका मूल किसी पुरानी भाषा से हुआ था। आधुनिक द्राविड़ भाषाओं तथा आधुनिक सिन्धी का उद्भव इसी 'मुअनि जोदड़ो' की प्राचीनतम द्राविड़ भाषा से हुआ है। बाद में सिन्ध की भाषा पर दार्दिक और इरानी भाषाओं का और तत्पश्चात् संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं का प्रभाव पड़ा।

मेरे विचार में जब तक 'मुअनि जोदड़ो' से प्राप्त लिखित अक्षरों को पढ़ा नहीं गया है और उस भाषा का स्वरूप निर्विवाद सिद्ध नहीं हुआ है, तब तक आधुनिक सिन्धी भाषा का या किसी अन्य भाषा का उद्‌गम उसमें खोजना केवल कपोल कल्पना ही है। सभी विद्वान इस बारे में सहमत हैं कि आधुनिक सिन्धी भाषा की व्याकरण तथा शब्दावली की दृष्टि से बुनियादी संरचना अधिकांशतः अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के समान है। इस हालत में उस का मूल किसी प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में ही मानना चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि सिन्ध की भाषा पर समयानुसार इरानी, दार्दिक, द्राविड़, अरबी आदि भाषाओं का प्रभाव पड़ता रहा है। वह इस प्रकार है जिस प्रकार आज के युग में भारतीय भाषाओं पर अंग्रेजी भाषा का प्रभाव पड़ रहा है। इस तरह का असर अधिकतर भाषा की शब्द-सम्पदा पर होता है। उससे किसी भाषा की मूलभूत शब्दावली और व्याकरण संबंधी संरचना में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता।

भाषा-वैज्ञानिकों ने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का उद्‌गम जिस प्रकार समझाया है, उसको ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि ईस्वी सन् से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व, सप्तसिन्धु के मैदानों में जब ऋषि-मुनियों ने मौखिक परम्परा से चले आते हुए ऋग्वेद के मंत्रों का संग्रह करना आरम्भ किया, उस काल में अथवा उससे भी कुछ सदियों पूर्व, आधुनिक सिन्धु प्रदेश में आर्य लोग जिस भाषा का बोलचाल में व्यवहार करते थे, उससे ही आधुनिक सिन्धी का उद्भव हुआ है। वैदिक संस्कृत

हिमवत्सिन्धुसौवीरान्ये जनाः समुपाश्रिताः

उकारबहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत्

अर्थात्, हिमालय, सिन्धु और सौवीर प्रदेशों में जो लोग रहते हैं उनकी भाषा में नाटककार को 'उकार' स्वर का अधिक प्रयोग करना चाहिए। यह निश्चित है कि भरत मुनि ने इन प्रदेशों की भाषाओं की विशेषताएं जानने के पश्चात् ही इस प्रकार का विधान किया होगा। इससे जाहिर है कि दूसरी ईस्वी सदी में सिन्धु तथा सौवीर की बोलियों में 'उ' स्वर का अधिक उच्चारण होता था। सिन्धी भाषा में यह प्रवृत्ति आज भी पाई जाती है। उदाहरणार्थ, माउ अर्थात् माता, पीउ अर्थात् पिता, भाउ अर्थात् भाई, हथु अर्थात्, हाथ, कनु अर्थात् कान, दांदु अर्थात् दांत शब्द दिए जा सकते हैं। इसके सिवाय, सिन्धी में सभी संज्ञावाचक क्रियाओं का अंत 'उकार' में होता है, जैसे-लिखणु अर्थात् लिखना, पढणु अर्थात् पढ़ना, घुमणु अर्थात् घूमना, इत्यादि।

सन् 495 से 631 तक सिन्ध प्रदेश में राइवंश के राजाओं का राज्य था। तत्पश्चात इस्वी सन् 631 से 711 तक ब्राह्मण वंश के राजाओं ने सिन्ध पर राज्य किया। सन् 711 में मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध पर आक्रमण किया और ब्राह्मण वंश के अन्तिम राजा दाहर को जीत कर सिन्ध के अधिकांश भूभाग पर अरबों के राज्य की स्थापना की।

अरबों का राज्य सिन्ध में लगभग 1050 तक चला। पांचवीं ईस्वी सदी के आरम्भ से लेकर ग्यारहवीं ईस्वी सदी के अन्त तक पश्चिम भारत में साहित्यिक स्तर पर 'अपभ्रंश' का इस्तेमाल हो रहा था। उस समय की बोलचाल की भाषा सिन्ध प्रदेश में ऐसी थी जिसमें अपभ्रंश की विशेषताएं तो थीं, परन्तु उसके साथ

84-M/P(N)473MofI&B—5

साथ कुछ नई प्रवृतियों का भी आरम्भ हो चुका था। विशेषत: अरबों के राज्यकाल में इन नई प्रवृतियों का प्राधान्य हो गया था। अत: आठवी ईस्वी सदी से लेकर ग्यारहवी ईस्वी सदी तक की सिन्ध प्रदेश की बोलचाल की भाषा को हम 'पुरानी सिन्धी' नाम दे सकते हैं। इसमें अपभ्रंश की विशेषताओं का ह्रास हो गया था और भाषा भारतीय आर्य भाषाओं की नई मंजिल से प्रवेश कर चुकी थी।

बारहवी ईस्वी सदी के प्रसिद्ध विद्वान आचार्य हेम चन्द्र ने अपने व्याकरण सिद्ध हैम शब्दानुशासन के अन्तिम भाग में 'नागर अपभ्रंश' के साहित्यिक रूप का विस्तार से वर्णन किया है। उदाहरणस्वरूप यहां नागर अपभ्रंश का एक दोहा प्रस्तुत किया जाता है–

ढोल्ला सामला घण चम्पा-वण्णी
णाइ सुवण्ण-रेह कसवट्टइ दिण्णी

इसका सिन्धी रूप है—

ढोलो सावलो धणि चम्पा-वर्णी
जणु सोन-रेह कसवटीअ दिनी

अर्थात् ढोला यानी प्रियतम सावले रंग का है और उसकी प्रियतमा चम्पा पुष्प के वर्ण की है। प्रियतम के आलिंगन में उसकी वह प्रेयसी इस प्रकार दिखाई देती है जैसे कसौटी पर कसे जाने पर सोने की रेखा दिखाई देती हो।

सत्रहवी ईस्वी सदी के व्याकरणकार मार्कण्डेय ने अपने व्याकरण प्राकृत-सर्वस्व में लिखा है कि सिन्ध प्रदेश में 'व्राचड अपभ्रंश' प्रचलित थी परन्तु उसने व्राचड अपभ्रंश की जो विशेषताए बताई हैं वे मुल्तानी से ज्यादा मिलती है। सम्भवत: 'सिन्ध प्रदेश' से अभिप्राय मुल्तान वाला इलाका रहा हो जो अरब काल में विशाल सिन्ध का एक भाग था। इससे अनुमान होता है कि अपभ्रंश-काल में सिन्ध प्रदेश की बोलचाल वाली भाषा व्राचड की अपभ्रंश के अधिक समीप थी।

सिन्ध में अरबो के राज्यकाल में पुरानी-सिन्धी पर अरबी भाषा का काफी प्रभाव हुआ, जिससे पुरानी-सिन्धी ने अरबी के कई शब्द आत्मसात् कर लिए। इसका परिणाम यह निकला कि अरबी भाषा की चार ध्वनियां फ़, ज़, ख़ और ग़ सिन्धी के ध्वनिग्रामों में शामिल हो गई।

अरबों के राज्यकाल में ही पुरानी सिन्धी का इतना विकास हो चुका था कि उसमें साहित्य लिखा जाने लगा। एक संदर्भ से हमें यह मालूम होता है कि भारत में कुरान शरीफ का पहला अनुवाद नौवीं ईस्वी सदी में सिन्ध प्रदेश के मन्सूरा नगर के एक विद्वान ने उस समय की सिन्धी भाषा में किया था।

सन् 1050 से 1350 तक सिन्ध प्रदेश के अधिकांश भाग पर सूमरा वंश के बादशाहों का राज्य था। उसके बाद समावंश के सरदारों ने 1350 से 1520 तक सिन्ध में राज्य किया। इन दोनों वंशो के बादशाह सिन्धीभाषी थे। अत: उनके राज्यकाल में सिन्धी भाषा का बहुत विस्तार और विकास हुआ। बादशाहों की शूरवीरता और दानवीरता पर तथा उनके प्रेम के प्रसंगों को लेकर तत्कालीन चारणों ने वीरगाथाओं और प्रेमगाथाओं की रचना की। ये गाथाएं न केवल सिन्ध में बल्कि आसपास के प्रदेशों में भी प्रसिद्ध हो गई। ससुई-पुन्हू, सुहिणी-मेहार, लीला-चनेसर, उमर-मारुई, मूमल-राणो, नूरी-जाम तमाची, सिन्ध की प्रसिद्ध प्रेम गाथाएं हैं। दोदो-चनेसर, सोरठ-राइ दियाच, मोरिडो नामक मल्लाह की मगरमच्छ से लड़ाई, सिन्ध की प्रसिद्ध वीरगाथाओं के उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त कुछ और लोकगीत भी इस काल की घटनाओं के आधार पर प्रचलित हुए। इससे जाहिर है कि ईस्वी पंद्रहवीं सदी के अंत तक सिन्धी भाषा इतनी विकसित हो चुकी थी कि उसमें साहित्य की सृष्टि होने लगी।

सन् 1520 से लेकर 1843 तक सिन्ध में अरगून, तरखान, मुगल, कल्होड़ा और टाल्पुर वंशों के मुसलमान बादशाहों ने राज्य किया। इस काल में सरकारी लिखापढ़ी के लिए फारसी भाषा का इस्तेमाल होता था। अत: फारसी का सिन्धी भाषा पर बहुत प्रभाव हुआ। कई फारसी शब्द और भाषा के प्रयोग सिन्धी भाषा का अंग बन गए। फारसी में लिखना-पढ़ना गौरव की बात समझी जाने लगी। ऐसी परिस्थिति में भी सिन्ध में कई सूफी और संत कवि इस काल में हुए जिन्होंने अपनी मातृभाषा सिन्धी में काव्य-सृष्टि की। काज़ी कादन, शाह अब्दुल लतीफ, सचल सरमस्त सिन्ध के प्रसिद्ध मध्यकालीन सूफी कवि हैं। स्वामी प्राणनाथ सामी और दलपत इस काल के प्रमुख ज्ञानमार्गी संत कवि हुए हैं। इनके काव्य की भाषा का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि मध्यकाल के अंत तक सिन्धी भाषा अतिगूढ़ आत्मिक विचारों की अभिव्यक्ति करने में क्षम बन चुकी थी। उसमें अरबी-फारसी शब्दों की अपेक्षा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश से आए हुए तद्भव शब्दों की प्रधानता थी। व्याकरण के कई प्राचीन रूप सिन्धी भाषा ने अपने पास सुरक्षित रखे थे।

सन् 1843 में अंग्रेजों ने सिन्ध पर विजय प्राप्त की। उनके राज्यकाल में सिन्धी भाषा पद्य के साथ-साथ गद्य की विभिन्न विधाओं को अभिव्यक्त करने में सक्षम बन गई। कई अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं के शब्दों को उसने आत्मसात् कर लिया। ज्ञान-विज्ञान के विविध विचारों की गूढता को भी व्यक्त करने में उसकी क्षमता उत्पन्न हुई।

सन् 1947 मे स्वतन्त्रता की प्राप्ति के साथ-साथ भारत के दो टुकड़े हो गए। सिन्ध प्रदेश पाकिस्तान का एक हिस्सा बन गया। अधिकांश सिन्धी भाषी हिन्दू अपनी जन्मभूमि को छोड़कर भारत के विभिन्न राज्यों में बस गए। अतः स्वतंत्रता के पश्चात् सिन्धी भाषा का दो विभिन्न दिशाओं में विकास हो रहा है। सिन्ध पाकिस्तान में सिन्धी भाषा अरबी-फारसी और उर्दू के बोझ से दबती जा रही है। यद्यपि वहां भी कई सिन्धी लेखक है जो ठेठ सिन्धी को अपनी साहित्यिक रचनाओ में इस्तेमाल करते हैं। सिन्ध में ठेठ सिन्धी भाषा का रूप वहा के गांवों की भाषा में और लोक-साहित्य में अधिकाश रूप में अभी तक सुरक्षित है। दूसरी ओर हम देखें कि भारत में सिन्धी भाषा हिन्दी शब्दों से बहुत प्रभावित हुई है। हिन्दी के माध्यम से यहा उसने कई संस्कृत-शब्दों को तत्सम रूप में ग्रहण कर लिया है। यही सिन्धी का ठेठ रूप बहुत तेजी से लुप्त होता जा रहा है।

भाषाओं का जन्म हुआ। दूसरी है हिन्दी आर्य शाखा जिसमें से पंजाब से लेकर असम तक की और दक्षिण में लंका और मालद्वीप तक की सभी आर्य भाषाओं का विकास हुआ। तीसरी शाखा उन आर्यगणों की भाषा थी जो चित्राल के मार्ग से भारत में प्रविष्ट होकर गिलगित, दरदिस्तान, कश्मीर राज्य, हजारामण्डल और अफगानिस्तान की स्वात घाटी में फैल गए। उनकी भिन्न भिन्न बोलियां आगे भिन्न-भिन्न भाषाओं के रूप में विकसित हो गई, जैसे शीणा, कादिरी, कोहिस्तानी, कश्मीरी इत्यादि। इन भाषाओं के इस सारे वर्ग को दरदी पैशाची वर्ग कहा जाता है। इस तरह से कश्मीरी भाषा की मूल जननी प्राचीन दरदी पैशाची भाषा को माना जाता है। उस भाषा को एक ओर से ऋग्वेद की हिन्दी आर्य भाषा की और दूसरी ओर से जंद और आविस्ताक की प्राचीनतम ईरानी भाषा की सगी बहन माना जाता है।

संस्कृत भाषा से विशेष आसक्ति रखने वाले कश्मीरी विचारक इस बात को सिद्ध करने का यत्न करते हैं कि कश्मीरी भाषा का उद्भव संस्कृत से हुआ है, दरदी पैशाची से नहीं। वे अपने मत को धातुसाम्य और शब्दसाम्य के आधार पर ठहराते हैं। इस्लामी संस्कृति के कई एक प्रेमी शब्दसाम्य के ही आधार पर कश्मीरी भाषा के उद्भव को हिब्रू भाषा में से सिद्ध करने का असफल प्रयत्न कर चुके हैं। केवल शब्दसाम्य से ही किसी भी भाषा के उद्भव को निश्चित तो किया ही नहीं जा सकता। अंग्रेजी के शब्द संसार भर की भाषाओं में समा गए हैं। संस्कृत के शब्द कई युगों से द्राविड़ भाषाओं में छाये हुए हैं। वर्तमान फारसी में अरबी के शब्दों की भरमार है। यह सभी उदाहरण विजातीय भाषाओं के परस्पर सम्मिश्रण के हैं। कश्मीरी और संस्कृत में जो परस्पर धातुसाम्य और मानव जीवन से अति सम्बद्ध शब्दों का साम्य है, उसे इन दोनों भाषाओं की एक-मात्र मूल जननी हिन्दी-ईरानी भाषा की देन माना जा सकता है। इसलिए भाषा शास्त्र पर वैज्ञानिक ढंग से विचार करने वाले अधिकांश विद्वान ग्रियर्सन के ही मत को अभी तक प्रामाणिक मानते हैं।

ऋग्वेद में पिशाचों का उल्लेख आता है। महाभारत में उन्हें दरदों, कम्भोजों और भोट्टों के साथ गिनाया गया है। कश्मीर में ग्यारहवीं शताब्दी तक पैशाची प्राकृत के अध्ययन की परम्परा चलती रही। इन बातों से यह सिद्ध होता है कि मूल पैशाची भारत के पश्चिमोत्तरीय मण्डल और प्रान्तों में रहने वाले पिशाच नामक आर्य-गणों की वह भाषा थी जो आविस्ता भाषा की तरह वैदिक संस्कृत से काफी मिलती जुलती थी। ऋग्वेद में पिशाचों को पिशाद कहा गया है। सम्भवतः वे पिशिताद अर्थात् विशेषतया मांस को ही खाने वाले आर्यगण थे। उनके विशेष शूरवीर गणों को दरद, अर्थात् भयप्रद ऐसा नाम दिया गया था।

नीलमत पुराण के आख्यानों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि कश्मीर मण्डल में हिन्दी आर्यों के बसाए जाने के साथ ही साथ वहा उत्तर की ओर से पिशाचों के गण भी घुस आए। चिरकाल तक के संघर्षों के पश्चात् जब नागों ने उनमें परस्पर समझौता करवा दिया तब से दोनों वर्ग वहा एक साथ शान्तिपूर्वक रहने लगे। इतिहास की इन साक्षियों से ग्रियर्सन के मत को पुष्टि मिलती है। प्राकृत वैयाकरणों ने जिस पैशाची प्राकृत को विंध्यप्रदेश की भाषा बतलाया है, वह चूलिकापशाची प्राचीन मूल पैशाची से और अर्वाचीन पशाची प्राकृत से भिन्न है।

हिमाचली भाषाओं के साथ भी कश्मीरी भाषा का शब्दसाम्य मिलता है। यह भी सम्भव है कि दरदों और पिशाचो के साथ ही साथ कश्मीर में हिमाचल के खष् भी पर्याप्त संख्या में प्रविष्ट हो गए हो और उन्ही के कारण इस देश को खषमेरु कहा गया हो और उसी शब्द से कश्मीर शब्द बना हो। वेदों में कश्मीर की मुख्य नदी वितस्ता का नाम तो आता है, परन्तु कश्मीर देश का नाम नही आता। जब तक उत्तर-पश्चिम प्रदेशों की इन सभी भाषाओं का पूरा सर्वेक्षण वैज्ञानिक ढंग से नही किया जाता तब तक ग्रियर्सन के ही मत को प्रामाणिक माना जा सकता है।

प्राचीन मूल पैशाचो भाषा में से कालान्तर में पैशाची प्राकृत भाषा का उदय और विकास हुआ। जब वह भी साहित्य की भाषा बन गई तो द्वितीय शताब्दी के लगभग गुणाढ्य नामक कलाकार ने उस भाषा में बृहत कथा का निर्माण किया। पैशाचो प्राकृत का और उस मूल बृहत्कथा का अध्ययन कश्मीर में ग्याहरवी शताब्दी तक अवश्य ही चलता रहा। उस शताब्दी में वहा से मेन्द्र और सोमदेव ने जब बृ त कथा के दो संस्कृत अनुवादों का निर्माण किया तब से अगली पीढियों ने मूल बृहत कथा को पढ़ना और पढ़ाना छोड़ दिया। नेपाल में उससे पहले हो वह परम्परा तभी टूट गई थी जब बुद्ध स्वामी ने बृहत्कथा का सार सस्कृत मे लिखा था। इ तरह से मूल बृहत-कथा के साथ ही पैशाची प्राकृत के उस एकमात्र अवशेष का भी लोप ग्याहरवी शताब्दी के अनन्तर हो गया। परन्तु उस पैशाची प्राकृत से विगड र जिस पैशाच अपभ्रंश का विकास ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी के मध्यभाग में हो चुका था, वह अपभ्रंश भी आठवी शताब्दी के लगभग साहित्यिक भाषा के रूप को धारण कर गया था। उसके थोड़े से अवशेष हमें आचार्य अभिनवगुप्त के तन्त्रसार और परात्रिंशिका विवरण में मिल. रहे हैं। वे सन्तों और योगिनियों की रानी से लिए हुए गद्यात्मक और पद्यात्मक उद्धरण हैं। उन में अधिकांश उद्धरण दुर्बोध हैं। दुर्बोधता का मुख्य कारण अर्वाचीन प्रति-लिपिकारों की असावधानी और वर्तमान सम्पादकों की लापरवाही हो सकते हैं।

इस तरह से पैशाच अपभ्रंश के अध्ययन की यह अति स्वल्प सामग्री भी त्रुटिपूर्ण है। उसी पैशाच अपभ्रंश में से प्राचीन कश्मीरी भाषा का विकास ईसवी सन् की द्वितीय सहस्राब्दी की प्रारम्भिक शताब्दियों में हुआ। उस अपभ्रंश भाषा के प्रतीक के रूप में हमारे पास तेरहवीं शताब्दी के आ. शितिकण्ठ का महानय प्रकाश नामक दर्शन ग्रन्थ विद्यमान है। ग्रन्थ की कारिकाएं उस प्राचीन कश्मीरी भाषा में हैं जो एक ओर से पैशाच अपभ्रंश से काफी मिलती है और दूसरी ओर से वर्तमान कश्मीरी भाषा के समीप पहुंच रही है। परन्तु कारिका भाग में भी लिपिकों और सम्पादकों के हाथों से लाई गई त्रुटियों की कमी नहीं है। उन की भाषा पर अभी तक कोई शोध कार्य भी नहीं होने पाया।

वर्तमान कश्मीरी भाषा का जन्म और विकास हिन्दवी और इस्लामी संस्कृतियों के प्रारम्भिक सम्मिश्रण की परिस्थितियों में चौदहवीं शताब्दी में हुआ। उस युग की कश्मीरी भाषा का जीता जागता प्रतीक लल्लेश्वरी नामक सिद्धयोगिनी की वह वाणी है जिसने अपनी लोकप्रियता को अभी तक बनाए रखा है। लल्लेश्वरी की भाषा में और आज की कश्मीरी में कोई विशेष अन्तर नहीं है। अगली शताब्दियों में उसके भीतर फारसी और अरबी शब्दों का अधिक-अधिक समावेश होता गया और शब्द रचनाओं में तथा रूपावलियों में थोड़ा-थोड़ा परिवर्तन आता रहा। परन्तु कश्मीरी भाषा का पूरा विकास हमें लल्लेश्वरी की वाणी में स्पष्टतया उपलब्ध हो रहा है। इस तरह से कश्मीरी भाषा के बीज प्राचीन मूल पैशाची में थे और उनके विकास की चार मुख्य भूमिकाएं पैशाची प्राकृत, पैशाच अपभ्रंश, प्राचीन कश्मीरी और वर्तमान कश्मीरी हैं।

उर्दू भाषा का उद्‌भव और विकास

—डा० एम० के० ए० बेग

उत्तरी भारत की दूसरी भाषाओं की तरह उर्दू भी एक हिन्द-आर्य भाषा है। यह इसी देश में पैदा हुई और यहीं फली-फूली उत्तरी भारत में हिन्द-आर्याई भाषाओं के उद्‌भव का क्रम 1500 ईसवी पूर्व में आर्यों के आगमन से शुरू होता है। आर्यों के भारत आगमन से जिस भाषा की उत्पत्ति सबसे पहले हुई वह थी वैदिक संस्कृत। इसके प्राचीनतम चिन्ह ऋग्वेद में मिलते हैं। यही भाषा समय के साथ निखर कर क्लासिकी संस्कृत कहलाई। पाणिनी ने अपने 'अष्टाध्यायी' के द्वारा इसे नियमों में जकड़कर कठिन भाषा बना दिया। जनसाधारण ने इस भाषा की अपेक्षा एक ऐसी भाषा अपना ली जो बोलने में आसान थी और नियमों के लिहाज से सरल थी। इस भाषा को भाषाविद प्राकृत के नाम से याद करते हैं। प्राकृतों के उदय का काल 600 ईसा पूर्व माना जाता है। प्राकृतों की कोख से ही 600 ई० में अपभ्रंश पैदा हुई जो पूरे 400 साल तक फलती-फूलती रही। प्राकृतों के आरम्भिक नमूने पाली और अशोक के लेखों में मिलते हैं। इन प्राकृतों ने जब साहित्यिक रूप अपनाया तो जन-साधारण एक बार फिर सुगम और सरल भाषा स्वीकार करने पर विवश हो गया। यह प्राकृत का बिगड़ा रूप था-यही बिगड़ी या भ्रष्ट भाषा अपभ्रंश कहलाई। इसकी धारा 600 ई० से 1000 ई० तक सतत प्रवाहित होती रही। 1000 ई० के बाद इसकी प्रगति की गति रुक गई और विभिन्न अपभ्रंशों से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के उदय का युग आरम्भ हुआ।

जब मुसलमानों ने पंजाब से आकर दिल्ली को पहली बार अपना कार्यक्षेत्र बनाया तब इन नवागन्तुकों में अरबी जानने वाले भी थे और फारसी व तुर्की बोलने वाले भी। लेकिन अधिकांश लोग ऐसे थे जिनकी मातृभाषा पंजाबी थी। दिल्ली और उसके आसपास के क्षेत्रों में चार बोलियाँ हरियाणवी, खड़ी बोली, ब्रजभाषा और मेवाती पहले से ही सिर उठा चुकी थीं। विभिन्न देशी और विदेशी भाषाओं की बोलियों के संगम से जो भाषा अस्तित्व में आई वह क्रमशः हिन्दी, हिन्दवी और बाद में उर्दू

आकाशवाणी शिमला से 24 अगस्त, 1979 को प्रसारित

कहलाई। उर्दू का शाब्दिक अर्थ लश्कर है। आरम्भ में यह शब्द उस भाषा के लिये लाया गया जिसे फौजी या लश्करी इस्तेमाल करते थे। धीरे-धीरे सैनिकों के द्वारा प्रयोग में यह भाषा देश के दूसरे भागों में पहुंच गई।

उत्तरी भारत में अपने विकास की एक शती पूरी करने के बाद 1295 में यह भाषा दक्षिण में पहुंची। जहा 1700 ई. तक यह स्वतन्त्र रूप में फलती-फूलती रही। दक्षिणी भारत में 1200 और 1700 ई. के दौरान जिस भाषा का विकास हुआ उसे *दकनी या पुरानी उर्दू की संज्ञा दी जाती है।*

उत्तरी भारत में पुरानी उर्दू के आरम्भिक नमूनों का अभाव है। 13वी, 14वी, 15वी और 16वी सदी के बीच इस भाषा के कोई भी चिन्ह उत्तरी भारत में नही मिलते जबकि दक्षिण पहुंचकर इन्ही सदियो के दौरान उर्दू ने कई प्रतिष्ठित रचनाएं प्रस्तुत की। उत्तरी भारत में उर्दू के आरम्भिक नमूने सूफियों की सूक्तियों में मिलते हैं जो विभिन्न स्थानों पर विखरे हुये थे। मौलवी अब्दुल हक ने उन्हें इकट्ठा कर पुस्तक रूप में प्रकाशित किया है। पुरानी उर्दू के सबसे पहले महत्वपूर्ण लेखक अमीर खुसरो माने गये हैं। उन्होने अपनी गज़लें और पहेलिया जुबाने-देहलवी में लिखी। अमीर खुसरो की शायरी के बाद उत्तरी भारत में पूरे 300 साल तक पूरा सन्नाटा छाया रहा। इस लम्बे अन्तराल के बाद 17वी सदी के आरम्भ में एक बार फिर साहित्यिक लहर उभरती है *और नये सिरे से शायरी की फिजा कायम होने का सुराग मिलता है।* इसका प्रमाण मुहम्मद अफजल की 'विकट कहानी' है। प्रोफेसर मसूद हुसैन खान ने उत्तरी भारत में इसे उर्दू का पहला प्रामाणिक नमूना माना है। 'विकट कहानी' के बाद उत्तरी भारत की दूसरी महत्वपूर्ण काव्यमय रचना 'आशूर नामा' है जो कर्बला की घटनाओं के सम्बन्ध में एक लम्बी कविता है। इसका लेखक सहारनपुर वासी रौशन अली है।

'आशूरनामा' का रचना काल 1688 ई. है। 'आशूरनामा' की भाषा 17वी सदी के अन्त की वह भाषा है जो वर्तमान उत्तर प्रदेश के पश्चिमी दोआबा क्षेत्र में बोली जाती थी। 'मरसिये रेख्ता' का सम्बन्ध भी अनुमानतः इसी दौर से है। ये मरसिये उत्तरी भारत के विभिन्न शायरों द्वारा लिखे गये थे। इनमें कुछ के नाम हैं–कुरबान अली, सलाह और कासम आदि। 17वीं सदी की अन्तिम महत्वपूर्ण रचना इस्माईल अमरोहवी की दो पुरानी मसनवियों का संग्रह है जिससे उत्तरी भारत में पुरानी उर्दू की आखिरी कड़ी कहना असंगत न होगा। 17वी सदी के अन्त में दक्षिण के मुस्लिम राज्य जैसे बीजापुर, गोलकोण्डा वगैरह मुगलों के अधीन आ गये और 1707 में औरंगजेब की मृत्यु के बाद उत्तरी और दक्षिणी क्षेत्रों में सम्पर्क होने से

पर आई जो फारसी के प्रसिद्ध किस्से 'चहार दरवेश' का अनुवाद है। इन गद्यात्मक रचनाओ और कुरान-शरीफ के कुछ अनुवादों के अतिरिक्त 1800 ई. के दौरान गद्य की और कोई पुस्तक उपलब्ध नही हुई।

वली के दिल्ली आगमन और उत्तरी भारत में उर्दू शायरी के विकास से उर्दू की प्रगति यात्रा का दूसरा अध्याय शुरू होता है और उर्दू अपने पुरानेपन का चोला बदल कर अपने विकास के दूसरे दौर में प्रवेश करती है। इसके प्रारम्भिक नमूने जाफर वटली, फायज देहलवी और ईस्वी खा बहादुर के यहां देखने को मिलते हैं। इन लेखकों के अतिरिक्त 18वी सदी के मध्य में उर्दू के प्रसिद्ध कवि हातिम, यकरंग, मजमून, आबरू, मजहर और नाजी वगैरह आते हैं। इनकी भाषा को न तो हम प्राचीन कह सकते है और न ही पूरे तौर पर आधुनिक। इस शती के दूसरे अर्धांश के शायरो में ख्वाजा मीरदर्द, मीरसोज, मुहम्मद रफी सौदा, मीरतकी मीर वगैरा के साथ उर्दू के विकास का दूसरा दौर भी खत्म हो जाता है। मीरतकी मीर की मृत्यु यानी 19वी सदी के आरम्भ से उर्दू अपनी सतत प्रगति के तीसरे दौर में दाखिल होती है। फोर्ट विलयम कालेज की रचनाए आधुनिक उर्दू के प्रमुख प्रतीक हैं।

उर्दू के उद्भव और विकास पर नजर डालते समय हम दिल्ली और आस-पास की बोलियो की अवहेलना नही कर सकते। स्थानीय बोलियां बोलने वालों में लगभग सभी गैर मुस्लिम और सरकारी कर्मचारी थे। राजनैतिक और सामाजिक लाभ और पारस्परिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप उनके लिय शासकों की भाषा सीखना और उसमें प्रवीणता प्राप्त करना अनिवार्य था। फलस्वरूप स्थानीय लोगों ने प्रभावशाली शासक वर्ग के सम्मुख ऊंचा उठने और प्रशासन के उच्च पद पाने के लिये फारसी सीखना शुरू किया और इस तरह स्थानीय लोगो का एक प्रभावशाली वर्ग इस भाषा में दक्ष हो गया।

मौलवी अब्दुलहक के अनुसार इस काम में हिन्दुओं ने तो बड़ा कमाल दिखाया। उनमें फारसी के ऐसे लेखक और कवि हुए हैं जिन की कई रचनाएं अब भी बहुमूल्य समझी जाती हैं। फारसी के शब्द बोलचाल की भाषा में भी प्रयुक्त किये जाने लगे। इस वर्ग के प्रभाव और प्रशासक वर्ग में मेलजोल के कारण लोगो की भाषा में अरबी, फारसी और तुर्की के शब्द शामिल होने लगे और इस तरह भाषा का एक नया ढांचा तैयार होने लगा। यह नई भाषा उर्दू ही थी। यह बात दिलचस्पी से खाली नही कि उर्दू को पहले हिन्दी नाम से याद किया जाता था। गालिब तक ने अपनी रचनाओं में उर्दू के लिये हिन्दी शब्द का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट होता है कि उर्दू के उद्भव

और विकास का सेहरा मुस्लमानों के सर ही नही बल्कि हिन्दुओं के सर भी है। इस तथ्य की ओर इशारा मौलवी अब्दुलहक ने अपने एक 'खुत्बाये सिदारत' में किया है। वह फरमाते हैं "उर्दू खास हिन्दोस्तान की पैदावार है और दोनों कौमो यानी हिन्दू-मुस्लमानों के लसानी तहजीबी और माशिरती इन्तेहाद का नतीजा है बल्कि यह हकीकत है कि इसके बन ने वाले ज्यादातर हिन्दू हैं।"

इस प्रकार उर्दू हिन्दुओं और मुस्लमानों की अभिव्यक्ति के एक माध्यम और उनकी संयुक्त सस्कृति के एक प्रतीक के रूप में उभर कर आई और आज भी यह भारत की समन्वयवादी संस्कृति और राष्ट्रीय एकता का एक सजीव उदाहरण है।

तमिल भाषा का उद्भव और विकास

—पूर्ण रामचन्द्र 'उमाचन्द्रन'

ऐतिहासिक प्रयासों के आधार पर विद्वानों ने यह निर्धारित किया है कि ईसा के शताब्दियों पूर्व ही तमिल भाषा पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी और साहित्यिक दृष्टि से उसको पर्याप्त गौरव प्राप्त हुआ था। संस्कृत के आदिकाव्य रामायण और महाभारत आदि प्राचीन काव्यों में तमिल भाषा संस्कृति और तमिल प्रान्त की अन्य विशेषताओं का उल्लेख पाया जाता है। तमिल के प्रसिद्ध कविता-संग्रह पुरनानूरु में पैरुं चोट्रू उदियना चेर लादन नाम के तमिल राजा की प्रशंसा में एक कविता पायी जाती है। महाभारत के युद्ध में दोनों पक्षों के वीरों को भरपेट भोजन कराने का गौरव उस राजा को प्राप्त हुआ था। इस कविता के रचयिता उदियन चेर लादन के समकालीन ही रहे होंगे। इससे स्पष्ट होता है कि महाभारत के समय में ही तमिल भाषा इतनी परिमार्जित थी कि उच्च कोटि की कविता उसमें रची जाती थी। यही नहीं अपितु उत्तर से सांस्कृतिक सामंजस्य स्थापित करने में भी तमिल भाषा का महत्वपूर्ण हाथ रहा।

तमिल भाषा का उद्भव कब और कैसे हुआ, इस बात का कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिलता। कोई भी भाषा पूर्ण प्रवाह से बहती हुई नदी के समान है। नदी का उद्भव कहां हुआ और कसे हुआ, इससे बढ़कर रोचक बात है कि नदी किन-किन प्रदेशों को किस प्रकार समृद्ध बनाती है और जनजीवन के विकास में और समाज की संस्कृति के विकास में उसका कैसा हाथ रहा है। तमिल भाषा का भी यही हाल है। तमिल प्रान्त की प्राकृतिक व्यवस्था के अनुरूप लोगों के रहन-सहन और आचार-विचार के अनुकूल तमिल भाषा का प्रादुर्भाव हुआ होगा और कई शताब्दियों से लाखों करोड़ों लोगों की जीभ पर रहकर कितने ही परिवर्तन और परिवर्धन के बाद यह भाषा एक सुव्यवस्थित रूप को प्राप्त हुई होगी।

ऐतिहासिक तथ्य जो भी हों दंतकथाओं की कमी नहीं है। तमिल जैसी प्राचीन भाषा के संबंध में ऐसी कथाओं का प्रचलन अनिवार्य है। कहा जाता है कि अगस्त्य

आकाशवाणी मद्रास से 9 नवम्बर, 1979 को प्रसारित।

मुनि ने तमिल भाषा का आविष्कार करके उसका प्रचलन कराया था। यह सच है कि अगस्त्य मुनि अपने कुछ चुने हुए शिष्यों के साथ उत्तर से विंध्याचल पार करके दक्षिण की ओर आये थे।

सुदूर दक्षिण के पोदि-है-पलै नामक पर्वत पर उन्होंने अपना आश्रम स्थापित कर लिया था। उस समय तमिल भाषा जन साधारण की भाषा रही होगी। व्याकरण के ढांचे में उस भाषा को ढालकर उसको सुव्यवस्थित और परिमर्जित रूप देने का श्रेय अगस्त्य मुनि को ही प्राप्त था। अगस्त्य मुनि रचित व्याकरण ग्रन्थ का उल्लेख बाद के कई ग्रन्थों में पाया जाता है। 'अहत्तियम्' नामक यह ग्रन्थ यद्यपि अब उपलब्ध नहीं है, फिर भी उसकी प्रशंसा कई मनीषियों ने अपने ग्रन्थों में की है। उससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि साहित्यिक दृष्टि से तमिल भाषा के विकास में अगस्त्य मुनि का महत्वपूर्ण हाथ रहा था।

तमिल का सब से प्राचीन ग्रन्थ जो अब उपलब्ध है वह है, 'तोलकाप्पियम्'। इस ग्रन्थ की रचना ईसा पूर्व पांचवी शताब्दी में हुई होगी। ऐसा माना जाता है कि इस ग्रन्थ को हम तमिल भाषा की ही नहीं अपितु तमिल साहित्य की भी प्राचीनता की कसौटी के रूप में पा सकते हैं। यद्यपि यह लगभग पच्चीस शताब्दियों पहले का रचित व्याकरण ग्रन्थ है फिर भी इसमें कई ऐसी सूक्ष्म बातों का उल्लेख हुआ है जो आधुनिक भाषा-विज्ञान के विद्वानों को परख और सराहना के योग्य सिद्ध हुई है। 'तोलका-प्पियम्' के तीन परिच्छेद हैं—अक्षर परिच्छेद, जिसमें तमिल भाषा की वर्णमाला और व्यंजनों का विस्तार पूर्वक विश्लेषण किया गया है; (2) शब्द परिच्छेद जिसमें शब्दविन्यास के विविध पहलुओं और उनकी सूक्ष्मताओं की जाच की गयी है; (3) तीसरा परिच्छेद अपने ढंग का निराला है इसको 'पोरुल-आदि-हारम' का नाम दिया गया है। पोरुल का अर्थ है वस्तु। इस परिच्छेद में साहित्य सृजन के योग्य विविध विषयों का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। अहम, पुरम नाम के दो शीर्षकों के अन्तर्गत साहित्यक वस्तुओं का विभाजन हुआ है। आन्तरिक प्रेमानुभूति की प्रतिक्रियाओं और प्रक्रियायों के चित्रण की कविता 'अहम्' कहलाती है। युद्ध, वीरता, शूर वीरों की सराहना, सराहना करने वाले का सम्मान इत्यादि बाह्य जीवन से संबंधित विषयों का चित्रण जिस रचना में होता है वह 'पुरम' कहलाती है। 'अह्म' और 'पुरम्' के अन्तर्गत साहित्य सृजन की सभी सूक्ष्मताओं का विश्लेषण 'तोलकाप्पियम' के रचयिता तोलकाप्पियर ने इस परिच्छेद में बड़ी दक्षता से किया है। भिन्न-भिन्न प्रकार मनोवृत्तियों की जांच करके उनके अलंकारों का प्रयोग कैसे होना चाहिए, इस पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है।

विविध छंदों का भी विवरण देकर उदाहरण के तौर पर कई उद्धरण भी दिये हैं। ये सब उद्धरण तोलकाप्पियम् के पहले के प्रसिद्ध ग्रन्थों में से, जो तोलकाप्पियर के समय में जाने-माने थे, दिये गये हैं। अब वे ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी तोलकाप्पियम में दिये गए उद्धरणों से पता चल सकता है कि उन ग्रन्थों का साहित्यिक स्तर उच्चकोटि का रहा होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तोलकाप्पियम् के रचनाकाल के बहुत समय पहले ही, अर्थात् पच्चीस शताब्दियों के पूर्व ही तमिल भाषा ऊंचे साहित्यिक स्तर पर पहुंच चुकी थी। तोलकाप्पियर अगस्त्य मुनि के शिष्यों की परंपरा के माने जाते है। बिना किसी संकोच के हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि अब से तीन-चार हजार वर्ष पहले ही तमिल भाषा पूर्ण रूप से निखर चुकी थी।

इस धारणा के संबंध में एक बात और भी यहां विचारणीय है। साहित्य-रचना की दिशा में विद्वानों को प्रोत्साहित करने के लिए और प्रत्येक नयी रचना का साहित्यिक मूल्यांकन करने के लिए, तोलकाप्पियम् के भी कई शताब्दियों पूर्व मदुरै नगर में प्रथम कवि परिषद की स्थापना हुई थी। उस समय के राजा उस परिषद के पोषक थे। मदुरै की वह प्रथम परिषद तलैच्चंगम के नाम से प्रसिद्ध हुई थी। दूसरी कवि परिषद की स्थापना कपाटपुरम नामक नगर में ईसा से प्रायः पांच छः शताब्दियों के पूर्व हुई थी यह परिषद कडैचंगम के नाम से प्रसिद्ध है। कपाटपुरम समुद्र तट पर बसा हुआ नगर था। और अचानक समुद्र के प्रचण्ड प्रकोप के कारण वह नगर एकदम डूब गया था। इसके बाद तीसरी परिषद पुन. मदुरै में ही स्थापित हुई थी। तमिल की प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण रचना तिरुक्कुरल इसी तीसरी परिषद के सदस्यों के सामने तिरुवल्लुवर के द्वारा पहली बार पढ़कर सुनायी गई थी। तिरुवल्लुवर संत थामस के समकालीन माने जाते हैं। इसलिए हम अनुमान लगा सकते हैं कि कडैचंगम अर्थात् तीसरी परिषद दूसरी शताब्दी ईसवी में पर्याप्त प्रतिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। इस गणना के अनुसार पहली परिषद का समय ईसा के डेढ़ दो हजार वर्ष पूर्व का माना जा सकता है। माने हुए विद्वानों और कवियों की परिषद का ऐसा बोलबाला उस समय रहा, तो उससे भी शताब्दियों पूर्व ही तमिल भाषा पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी होगी, यह मानना उचित ही होगा।

तमिल की जो प्राचीन रचनाएं अब प्राप्त हैं उनसे हम पा सकते हैं कि वे अपने ढंग की एक निराली संस्कृति को प्रतिबिंबित करती हैं। इससे पहले ही कि प्राचीन तमिल प्रान्त के लोगों को बाहरी देशवासियों से संपर्क बढ़ाने का अवसर प्राप्त होने

लगा, तमिल भाषा में सुव्यवस्थित रूप से साहित्य रचना होने लगी थी। अन्य भाषाओं के साहित्य का प्रभाव उस जमाने में तमिल साहित्य पर नही पड़ा था। इसलिए तमिल साहित्य अपनी निर्धारित गतिविधियों के अनुसार पनपता जाता था। तमिल प्रान्त की प्राकृतिक समृद्धिपूर्ण पृष्ठभूमि और उस जमाने के लोगों की अपनी निजी संस्कृति और जीवन पद्धति ही साहित्य रचना की प्रेरणा थी। तीनों तरफ समुद्र से घिरा हुआ भूभाग जिसके पहाड़ों और जगलों की प्राकृतिक छटा देखते ही बनती थी, जिसके जलप्रपात, नदी-नाले सुख-शांति के द्योतक थे, जिसके लहलहाते खेत और हरे-भरे बागबगीचे जीवन में आनन्द भर देते थे, ऐसे सुन्दर वातावरण में जीवन निर्वाह करनेवाले प्राचीन तमिलभाषियों की कोमल कल्पनाएं और भावुकतापूर्ण सपने भी नैसर्गिक सौन्दर्यानुभूति से भरपूर थे। इन्ही कल्पनाओं और भावुकता की झलक हमें प्राचीन तमिल कविता में मिलती है। प्रकृति के झूले में झूलने वाले सुन्दर युवा-युवतियों के छल-कपट रहित प्रेम जीवन की झाकी ऐसी रचनाओं में हम ले सकते है। इन रचनाओं के द्वारा आदर्श प्रेम का चित्रण किया जाता था, इसलिए नायक नायिका के नाम का उल्लेख किये बिना सांकेतिक शैली में ये रचनाएं होती थीं। अन्तर्मन की भावकुता को चित्रित करने वाली यही कविता शैली 'अहम्' कहलाती थी। बाहृय जीवन के विविध पहलुओं को चित्रित करने वाली कविता शैली 'पुरम्' कहलाती थी। इन दोनो शैलियों के अन्तर्गत जो फुटकर रचनाएं होती थी उनमें से चार-चार सौ रचनाएं अब उपलब्ध हैं। इन्ही रचनाओं के संकलन अहनानुस और पुनरानूस के नाम से प्रसिद्ध हैं।

अहम् और पुरम् प्रणालियों के अन्तर्गत फुटकर कविताओं की ही रचना तमिल में हुआ करती थी। जब से जैन और बौद्ध धर्मों का प्रचार तमिल प्रान्त में भी होने लगा तब से साहित्य सृजन का रुख ही बदल गया। प्रबन्ध काव्यों, बृहत काव्यों और लघु काव्यों की रचना होने लगी। इस युग में पांच सर्वश्रेष्ठ वृहत काव्य रचे गये जो तमिल के पंचमहाकाव्य माने जाते है। शिलप्पधिकारम, मणिमेखलै, जीवक चिन्तामणि, वलयापति और कुंडल केशी—इन पांच महाकाव्यों में से पहले तीन काव्य ही हमें प्राप्त हुए हैं। प्रायः साठ वर्ष पहले तक ये भी नहीं मिलते थे। तमिल के महान साहित्य सेवी महामहोपाध्याय स्वर्गीय स्वामीनाथ अय्यर के अथक परिश्रम और खोज के फलस्वरूप इन तीन काव्यों की ताड़पत्र की प्रतियां प्रकाश में लाई गई। सुचारु रूप से अय्यरजी द्वारा संपादित होकर व्याख्या सहित उन काव्यों का प्रकाशन हो सका है।

आगे चलकर कई प्रबन्ध काव्यों और महाकाव्यों की रचना तमिल में हुई जिन में कंबरामायण सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इस काव्य की विशेषता यह है कि वाल्मीकि-रचित रामायण के आधार पर रचित होने पर भी यह तमिल संस्कृति के अनुकूल मौलिकता लिए हुए है।

कडैचंगम अर्थात् अंतिम कवि परिषद का बोलबाला दूसरी शताब्दी ईसवी के अंतिम चरण तक रहा और उसके बाद यह परिषद धीरे-धीरे विघटित हो गयी। भक्ति आंदोलन जोर पकड़ने लगा और भक्ति साहित्य की रचना शैव और वैष्णव संत कवियों द्वारा होने लगी। इन संत कवियों ने तमिल भाषा के विकास को एक नया मोड़ दिया और उदीयमान कवियों को नयी प्रेरणा दी। इसी प्रेरणा के फलस्वरूप भक्तिपूर्ण भावुकता के आधार पर कंबरामायण जैसे महाकाव्यों की रचना होने लगी।

विविध प्रकार के लोगों और उनकी संस्कृतियों के संपर्क में आने के कारण तमिल भाषा का रूप भी बदलता गया। अन्य भाषाओं के शब्दों और विचारों को ग्रहण करके तमिल भाषा को और भी समृद्ध और सहायक बनाने की दिशा में अविरल प्रक्रिया अनजाने ही होती रही, अब भी होती रहती है। यही कारण है कि संस्कृत के समान प्राचीन होने पर भी तमिल भाषा आज भी जीवित भाषा का गौरव प्राप्त करके करोड़ों लोगों की मातृभाषा है।

दशबोधक के रूप में प्रयुक्त है। ग्यारहवी सदी के पूर्व कहीं भी संस्कृत वाङ्मय में 'आन्ध्र' शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में नहीं हुआ है। 'तेलुगु' शब्द का प्रयोग भाषा के लिए 1200 ई० से ही होने लगा है। इस शब्द की व्युत्पत्ति 'त्रिलिंग' शब्द से मानते हैं। दक्षिणी परम्परा के अनुसार लिंग अर्थात् शिव, तीनों पर्वतों (आन्ध्र के कालेश्वर, श्री शैलम् तथा भीमेश्वर) पर अवतरित हुए थे। इन तीनों पर्वतों के बीच में प्रदेश में व्यवहृत भाषा होने के कारण इसे त्रिलिंग भाषा की संज्ञा दी गयी है। इसी का विकास तेलुगु, तेनुंगु, तेनुगु आदि में हुआ है। लेकिन यह मत तर्कयुक्त नहीं है। एक अन्य मत के अनुसार 'तेलुगु' शब्द की व्युत्पत्ति तमिल शब्द 'वडगु' से हुई है। तमिल में 'वड' का अर्थ है 'उत्तरी दिशा'। तेलुगु भाषाप्रान्त तमिल के उत्तरी भाग में होने के कारण 'उत्तरी भाषा' के रूप में 'वडगु' शब्द चल पड़ा और उसी से तेलुगु शब्द का विकास हुआ। तेलुगु में भी 'तेन्नु' शब्द का अर्थ है दिशा। अतः इस शब्द के आधार पर भी तेनगु, तेलुगु आदि शब्दों की व्युत्पत्ति मानी जाती है।

आज तेलुगु भाषा-भाषियों की संख्या लगभग पांच करोड़ से अधिक है। इसका व्यवहार प्रमुखतया आन्ध्र प्रदेश में होता है और इसके भाषा-भाषी देश के अन्यान्य भागों में ही नहीं अपितु सारे विश्व में व्याप्त हैं।

मूल द्रविड भाषा से उत्पन्न तेलुगु भाषा के उद्गम और विकास को हम मोटे रूप से पांच कालों में विभाजित कर सकते हैं। ईसा के 200 वर्ष पूर्व की भाषा के ज्ञान को प्राप्त करने का कोई भी आधार न होने के कारण इसे अज्ञात युगम की संज्ञा दी जाती है।

ई० पू० 200 से लेकर 575 ई० तक के समय को 'संस्कृत प्राकृत शिलालेखीय युग' माना जा सकता है। इस युग के संस्कृत तथा प्राकृत के शिलालेखों में तथा प्राकृत ग्रन्थ 'गाथा सप्तशति' में अनेक तेलुगु शब्द देखे गये हैं। ईसा के प्रथम सदी में हाल द्वारा संकलित गाथा सप्तशती में प्राप्त कुछ तेलुगु शब्द हैं—अत्ता, पाडि, पोट्ट पिल्ल, पदि, कुण्ड आदि। इन शब्दों के सजातीय शब्द जहां अन्य द्रविड़ भाषाओं में देखे जाते हैं वहां इनके मूलरूप संस्कृत में दिखाई नहीं देते। ई०पू० 200 से 200 ई० के बीच के अमरावती स्तूप के शिलालेख में 'नागबु' शब्द देखा गया है। तेलुगु में प्राप्त अत्यंत प्राचीन शब्द यही है। संस्कृत तथा प्राकृत शिलालेखों में भी कई तेलुगु शब्द प्राप्त हैं जैसे—आचंट, उरवपल्लि, प्रालूर, एकूर आदि गावों के नाम, दोड्डि स्वामी, गचण

कोट्टि शर्मा आदि व्यक्तिवाचक संज्ञाएं, और महातंगवर, महातलवर जैसे उपाधि सूचक शब्द आदि इन शिलालेखों में प्रयुक्त हुए हैं। इन शिलालेखों के वाक्य प्राप्त न होने के कारण उस समय की तेलुगु की व्याकरणिक विशेषताओं के सम्बन्ध में कुछ भी कहा नहीं जा सकता।

सन् 575 से 1022 तक प्राप्त तेलुगु, कन्नड लिपि में प्रस्तुत शिलालेखों की भाषा को दूसरे युग में रखा जा सकता है। इसे तेलुगु के आदिकवि 'नन्नया' के नाम के आधार पर 'नन्नया पूर्व युग' की संज्ञा दी जा सकती है। इस अवधि में लगभग 200 शिलालेख प्राप्त हुए हैं। सन् 575 में एरिकल मत्तराजु उपाधिकारी राजा धनंजय का 'एर्रगुडिपाडु शिलालेख' इस युग का सर्वप्रथम प्रमाण है। इसकी भाषा में 10 स्वर तथा 23 व्यंजन ध्वनियां देखी जा सकती है इस में व्यवहृत तेलुगु का 'शकटरेफ' (विशिष्ट प्रकार की 'र' ध्वनि) व्यजनों में, तथा ह्रस्व ए और ओ ध्वनियां स्वरों में विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। इस युग की भाषा में ऋ, ऌ, एवं ठ का प्रयोग नहीं हुआ है। णुकार की बहुलता देखी जाती है। जैसे आनति के स्थान पर आणति, एनिमिदि के स्थान पर एणुम्बोदि, कोनि के स्थान पर कोणि आदि। शब्द रूपों को देखने से राजु, कोडकु, कम्मरि, जैसे कुछ शब्द प्रत्यय रहित है तो वल्लभ्मन, उत्तमोत्तमुन् जैसे शब्द प्रत्यय युक्त हैं। इसी युग के छन्दबद्ध शिलालेखों के बाद ही तेलुगु कविता का भी अविर्भाव हुआ है।

सन् 1022 से लेकर 1063 तक राजमहेन्द्रवरम को राजधानी बनाकर राज्य करने वाले राजा राजनरेन्द्र के आश्रम में रहकर तेलुगु के आदि कवि नन्नया ने 'महाभारत' के आदि तथा सभा पर्वों का तेलुगु में अनुवाद प्रस्तुत किया। यही तेलुगु का आदि ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त इस अवधि में प्राप्त शिलालेख ही तत्कालीन भाषाध्ययन के प्रमाण हैं। इस अवधि का 'नन्नया युग' की संज्ञा दी जा सकती है। इस समय तक आते आते नन्नय्या के पूर्व तक प्रचलित 'अज्य' ध्वनि शब्दारंभ में संयुक्त रूप में आने पर 'र' ध्वनि में तथा शब्द के मध्य में आने पर 'ड' ध्वनि में परिवर्तित हो गयी। जैसे–प्रा० ताज्यि तोट-ताड़ितोट। नन्नया के समय तक आते-आते 'अज्य ध्वनि' पूर्ण रूप से लुप्त हो गयी। शकटरेफ का प्रयोग भी पहले से काफी कम हो गया था। अनुनासिकता को व्यक्त करने वाले बिन्दु के बदले वर्ग पंचमाक्षरों का प्रयोग देखा जाता है। शब्द अधिकतर इकारांत ही होते थे जैसे 'गद्दि' 'कन्नि' आदि।

एकारात प्रवृत्ति जैसे 'गद्दे', 'कन्ने' नहीं थी। नन्नया के समय में विभक्ति प्रत्ययों के होने पर भी उनके स्थान पर स्वतंत्र शब्दों का प्रयोग किया जाता था। नन्नयुया के पूर्व समापक क्रिया के बिना ही वाक्य बोधगम्य हो जाते थे लेकिन नन्नयुया ने वाक्यों को समापक क्रिया युक्त किया है।

सन् 1063 से लेकर 1900 तक के युग को 'मध्य युग' की संज्ञा दी जाती है। इस युग के शिलालेख एवं साहित्यिक ग्रन्थ ही भाषाध्ययन के लिए आधारभूत सामग्री है। इस युग में आते-आते प्रत्येक वर्ग के पंचम अक्षर के बदले बिन्दु का प्रयोग होने लगा। शकटरेफ और साधारण "र" ध्वनि का अंतर लुप्त होता गया। शब्दों में आरम्भिक 'र' ध्वनि का लोप होने लगा, जैसे—मानु-मान, क्रोत-कोत, क्रिद-किन्द आदि। ईकारांत शब्दों के स्थान एकारात शब्द प्रयुक्त होने लगे, जैसे कन्ने, वन्ने, चिन्ने आदि।

13वीं शती के मध्य में ही आन्ध्र प्रांत में मुसलमानों का आगमन हुआ। इस युग के प्रसिद्ध कवि तिक्कना ने 'तराजू' शब्द से निष्पन्न 'तासु' शब्द का प्रयोग किया है। मुसलमानों के आक्रमण के फलस्वरूप 14वीं शती में आन्ध्र में काकतीय साम्राज्य का अंत हुआ और सन् 1347 में बहमनी साम्राज्य की स्थापना हुई। फलतः साहित्य तथा शिलालेखों में अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रवेश हुआ। फौज, सुलतान, साहेब, मुसलमान, खुशी, खबर आदि शब्द इसके अच्छे उदाहरण हैं। फ़, ग़, क़, ज़, आदि ध्वनियों के अभाव में इनके स्थान पर फ, ग, क, ज का प्रयोग ही होने लगा। इसी प्रकार अनास, बोप्पास, बाल्ची आदि पुर्तगाली शब्दों तथा कुंपिणी, कप्तान, मदाम आदि फ्रेंच भाषा के शब्द भी तेलुगु में प्रवेश कर गए। सी० पी० ब्राउन द्वारा सम्पादित 'तेलुगु निघंटु' का अवलोकन करने से 19वीं शती में तेलुगु में प्रविष्टि कई अंग्रेजी शब्दों का ब्योरा मिल जाता है।

20वीं शती की तेलुगु भाषा आधुनिक युग के अंतर्गत आती है। यहां तक आते-आते ऋ, ऌ, अनु, अलु, तथा शकटरेफ ध्वनियां पूर्णतया लुप्त हो चुकी थीं। 'फ' तथा विशिष्ट प्रकार की 'ए' ध्वनि का आगमन हुआ, जैसे 'टाटेलु', 'बैंक' आदि में उच्चारण में शीघ्रता के कारण वर्ण समीकरण होने लगा है। 'पार्वतिराय' का 'पार्व्वतराय' होना, 'इमुकु गदि' का 'इमगदि' होना आदि इसी के उदाहरण हैं। रोड्डु, पोस्टाफीसु, रैलु, कार्ड, कौंसेली, स्कूलु, सैकिलु, सिनिमा आदि अंग्रेजी शब्दों

का प्रयोग अधिकतः होने लगा है। सामान्य वाक्य कभी क्रिया सहित प्रयुक्त हो रहे हैं तो कभी क्रिया रहित। जैसे—'आयन डाक्टरु आदि गुर्रम् इदि ना कलम्' आदि में क्रिया का लोप देखा जाता है। 'वाडु संतोषंगा उन्नाडु', 'आमे आकल्तो उदि' आदि में क्रिया का समावेश देखा जाता है। मिश्रित वाक्यों में हिन्दी में जहा 'या' अथवा 'और' का प्रयोग होता है वहां इसके लिए तेलुगु में वाक्यांशों की अथवा संज्ञा शब्दों की अंतिम ध्वनि को दीर्घ में परिवर्तित कर लिया जाता है। जैसे रामारावू, सुब्बारावू कलसि वच्चारू। हिन्दी में इसी के लिए होगा— रामाराव और सुब्बाराव मिल कर आये हैं। विकल्पार्थ अर्थात् 'या' के अर्थ में इसी दीर्घ के स्थान पर संज्ञा शब्दों के साथ दीर्घ 'ओ' ध्वनि को जोड़ा जाता है। जैसे 'रामारावो', 'सुब्बारावो वस्तारु' अर्थात् रामाराव या सुब्बाराव आएंगे।

इस प्रकार तेलुगु भाषा उत्तरोत्तर विकसित होती हुई अपने व्यावहारिक रूप में बीसवीं शती के उत्तरार्ध में स्थिर हो सकी है।

कन्नड़ भाषा का उद्भव और विकास

—डा० टी० जी० प्रभाशंकर प्रेमी

कन्नड़ कर्नाटक राज्य की राजभाषा है। यह द्रविड़ कुल की पांच भाषाओं में से एक है। अन्य द्रविड़ कुल की भाषाएं हैं—तमिल, तेलुगु, मलयालम और तुळु। तुळु कन्नड की एक बोली मानी जाती है। उसके लिए अलग लिपि नहीं है। साहित्यिक न होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से प्रसिद्ध बोलियां हैं—तोड, कोट, बडग और कोडगु। इन द्रविड़ भाषाओं की कोई मूल द्रविड़ भाषा रही होगी। उस मूल द्रविड़ भाषा के लोग 1500 ईसा पूर्व के आसपास पश्चिम एशिया और पूर्व भूमध्यसागर तट के प्रदेशों से भारत आये होंगे।

द्रविड़ लोग आर्यों के आगमन के पूर्व ही अपनी भाषा और संस्कृति का विकास करके समूचे भारत वर्ष में फैल गये थे। विद्वानों की राय में हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की सभ्यता का निर्माण द्रविड़ों से ही हुआ था। अतः ईसा पूर्व में ही मूल द्रविड़ भाषा रही होगी। रामायण और महाभारत में इसके प्रमाण मिलते हैं। उनमें कर्नाटक, आंध्र, कुंतल आदि द्रविड़ प्रदेशों का उल्लेख हुआ है।

द्रविड़ लिपि ईसा पूर्व पांचवीं शती के मध्यकाल से ही पायी जाती है। तत्पूर्वीय शिलालेख ब्राह्मी लिपि में उपलब्ध हैं। विद्वानों का अभिप्राय है कि आर्यकुल की लिपियां ब्राह्मी मूल की देवनागरी से उत्पन्न हैं तो द्रविड़ लिपियां का विकास प्राचीन अशोक की ब्राह्मी लिपियों की दक्षिण शाखा से हुआ है। बनावट की दृष्टि से जिस प्रकार कन्नड़ और तेलुगु लिपियों में साम्य है उसी प्रकार तमिल और मलयालम लिपियों में साम्य है। तेरहवीं शताब्दी पूर्व लिखे गये तेलुगु शिलालेखों के आधार पर यह बताया जाता है कि प्राचीन काल में तेलुगु और कन्नड लिपियां एक ही थी।

कन्नड शब्द की उत्पत्ति

कन्नड़ शब्द भाषावाचक है तो 'कर्नाटक' शब्द देशवाचक है। कन्नड़ भाषी कन्नडिग कहलाते हैं। चंद विद्वानों के अनुसार कर्नाटक शब्द संस्कृत का है और कर्नाटक

आकाशवाणी, बंगलूर से 7 दिसम्बर, 1979 को प्रसारित।

कन्नड़

या कन्नड़ उसका तद्भव रूप है। संस्कृत शब्द रत्नावली ग्रन्थ में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई गई है —

कर्णेषु अटति, प्रभूत यशस्विन एतद्देशस्य राज गुणादि कीर्तनेन सर्वेषु प्रमतीति–अर्थात् प्राचीन काल में प्रख्यात राजाओं के गुण कीर्तन से कर्ण भर जाने से इस देश का नाम कर्नाटक पड़ा। कुछ अन्य विद्वान मानते हैं कि 'कर्णाट' नामक राक्षस के रहने से यह नाम पड़ा।

श्री आर० नरसिंहाचार्य के अनुसार 'कम्पितु नाडु' से कन्नड़ शब्द की उत्पत्ति हुई। कम्पितु नाडु का अर्थ है सुगंधित देश। फादर हेरास मानते हैं कि 'कन जाति के लोग मूल कन्नडिग थे और यह द्रविड़ जाति की शाखा थी। 'करुनाड शब्द का उल्लेख सातवीं सदी के शिल्पादिकारा में हुआ है। 'करुनाडु' श का अर्थ है काली मिट्टी का प्रदेश। लगता है कि 'करुनाडु' कन्नड शब्द का संस्कृ रूपांतर ही कर्नाटक शब्द है। "कर्नाट" शब्द का उल्लेख वराहमिहिर कृत बृहत्संहि सोमदेवकृत कथा-सरित्सागर, गुणाढ्य कृत बृहद्कथा आदि ग्रन्थों में हुआ है।

प्रथम शिलालेख

यद्यपि यह बताया जाता है कि महाभारत और रामायण काल में भी क भाषा बोली जाती थी तो भी ईसा के पूर्व कन्नड़ का कोई लिखित रूप नहीं प्र होता है। कन्नड़ का प्रथम उपलब्ध शिलालेख हल्मिडी नामक स्थान में प्राप्त है और इस का रचनाकाल 450 ई. बताया जाता है।

सातवीं शताब्दी में लिखे गए शिलालेखों में बादामि और श्रवणबेलगो शिलालेख महत्वपूर्ण हैं। प्रायः 8वीं शताब्दी के पूर्व के शिलालेखों में गद्य का हुआ है। और उसके बाद के शिलालेखों में काव्य लक्षणों में मुक्त पद्य के उदाह मिलते हैं। उन शिलालेखों की भाषा सुगठित प्रौढ़ तथा संस्कृत भाषा से प्र है।

सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रन्थ

कन्नड़ भाषा में 9वीं शताब्दी से साहित्यिक ग्रन्थ उपलब्ध हुए की रचनाओं के सम्बन्ध में उल्लेख मिलने पर भी अब तक कोई है।

कन्नड़ का सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है 'कवि राज मार्ग' । यह चंपू शैली में रचित लक्षण ग्रन्थ है जो प्रधानतया दण्डि के काव्यादर्श पर आधारित है। यह 9वीं शताब्दी का ग्रन्थ है। इसके सम्बन्ध में भी मतभेद है कि इस के रचयिता मान्यखेट के राष्ट्रकूट चक्रवर्ती स्वयं नृपतुंग थे या उनके दरबारी कवि श्री विजय थे। इस लक्षण ग्रन्थ में पूर्व के कवियों तथा उनकी कृतियों का भी उल्लेख हुआ है । परन्तु वे कृतियां अब प्राप्य नहीं हैं। कविराज मार्ग के बाद कन्नड़ भाषा में ग्रन्थ निर्माण का कार्य उत्तरोत्तर बढ़ा और भाषा निरंतर विकास को प्राप्त करती गयी।

कन्नड़ भाषा के विकास क्रम की चार अवस्थाएं है

1. अति प्राचीन कन्नड़ (पूर्वद हलेगन्नड) 850 ई. तक
2. प्राचीन कन्नड़ (हले गन्नड) 850 ई. से 1200 ई. तक
3 मध्ययुगीन कन्नड़ (नडुगन्नड) 1200 ई. से 1800 ई. तक
4 आधुनिक कन्नड़ (होस गन्नड) 1800 ई. से अब तक की अवस्था।

अति प्राचीन कन्नड़ (पूर्वद हलेगन्नड)

अति प्राचीन कन्नड़ का रूप शिलालेखों की भाषा से ही निश्चित होता है जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है।

प्राचीन कन्नड़ (हले गन्नड)

सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रन्थ 'कविराज मार्ग' इसी काल का है। कविराज मार्ग के बाद दूसरा उल्लेखनीय ग्रन्थ है 'वड्डाराधने' जिसमें जैन महापुरुषों की कथाएं गद्य में निरूपित है। यह कन्नड़ भाषा का सौभाग्य है कि गद्य रचना का प्रारम्भ प्राचीन काल में ही हुआ जबकि हिन्दी में प्राचीन युग में गद्य रचना का प्रारम्भ नहीं हुआ। वड्डाराधने की रचना शिवकोटयाचार्य नामक जैन कवि ने 900 और 1070 ई. के बीच में की है। इसकी रचना प्राकृत ग्रन्थ भगवती आराधना के आधार पर हुई है। इस काल में रचे अन्य कवियों के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं।

प्राचीन कन्नडाकत पंप युग नामने प्रसिद्ध है। यह युग जैन युग भी कहलाता है। आदिकवि पंप जैन थे। इन्होंने चपू काव्य शैली में आदि पुराण तथा विक्रमार्जुन विजय (पंपभारत) की रचना की। इनका काल 902 ई. है। पोन्न (950 ई.) के शांति पुराण और भुवनैक्य विजय रन्न (993 ई.) के अजितपुराण और साहस भीम विजय (गदायुद्ध) श्रेष्ठ काव्य है। चामुंडराय कृत 'चामुंडराय पुराण' प्राचीन

कन्नड़ गद्य का एक सुन्दर नमूना है। ग्यारहवी सदी के अन्त मे रचित नागचन्द्र का रामगद्य पंप रामायण नाम से ही प्रसिद्ध हो गया। पंप भारत के अनुकरण पर लिखने से इनका नाम अभिनवपप पड़ा। प्राचीन कन्नडा काल में संस्कृत भाषा के संपर्क से कन्नड़ का शब्द भण्डार बढ़ा और उसकी अभिव्यजना शक्ति भी विकसित हुई। इस युग में चंपू (गद्य पद्य मिश्रित) शैली का विकास हुआ। इस प्राचीन कन्नड में "र" के दो मूर्धन्य रूपो का प्रयोग होता था जो अब छूट गया है। इस प्राचीन कन्नड़ भाषा के लिए व्याकरण ग्रन्थ भी रचे गये थे। यह प्राचीन कन्नड़ साहित्य 14वी शताब्दी तक प्रौढ़ावस्था में था। परन्तु प्रौढ़ काव्यों की भाषा पंडितों की भाषा होने से धीरे-धीरे जन सम्पर्क से दूर हो गई।

मध्ययुगीन कन्नड (नडुगन्नड)

12वी शताब्दी मे कर्नाटक देश मे धार्मिक क्रान्ति के साथ कन्नड़ भाषा में भी क्रान्ति हुई। बसवेश्वर ने वीरशैवमत का प्रसार कर लोगो मे नयी जागृति पैदा की। शरणों ने जनसामान्य की भाषा मे वचन नामक एक विशिष्ट गद्यगीत शैली मे रचना की। इस युग में बसवेश्वर भक्त महादेवी आदि सहस्र शिवशरण वचन-कार बन गए। चंपूकाव्य के स्थान पर अब षटपदि काव्य रचे जाने लगे। प्राचीन कन्नड़ कौमार्यावस्था की भाषा थी तो यह मध्ययुगीन कन्नड़ भाषा तारुण्यावस्था की भाषा थी। हरिहर राघवांक, पदभरस, चामरण, कुमार-व्यास, लक्ष्मीश, विरूपाक्ष, पडित कुमार वाल्मीकि इस युग के जनप्रिय कवि थे और हरिश्चन्द्र काव्य प्रयुलिंग लीले, गदुगिन भारत, जैमिनी भारत, चेन्नबसव पुराण और तोरवे रामायण जनप्रिय काव्य हैं। इस युग में दास साहित्य बोल चाल की कन्नड़ भाषा मे रचा गया। पुरंदरदास, कनकदास आदि इसी धारा के प्रमुख कीर्तनकार हैं। सत्रहवीं शताब्दी में सर्वज्ञ महाकवि ने त्रिपदी छद में कबीर के समान उपदेशात्मक साहित्य की रचना की।

आधुनिक कन्नड (होसगन्नड)

विजयनगर साम्राज्य के पतन के बाद चिक्कदेवराज, मुम्मडि कृष्णराज आदि मैसूर के राजाओं ने कवियो को आश्रय दिया। 18वी शताब्दी में तिरुमलाचार्य, होन्नम्मा गिरियम्मा आदि ने गद्य-पद्य ग्रन्थो की रचनाए की। इस काल में ही होसगन्नड (आधुनिक कन्नड़) का श्रीगणेश हुआ। 19वी शताब्दी में भारत अंग्रेजो के शासन के अधीन चला गया। अतः भारत में अंग्रेजी भाषा का प्रचार तीव्र गति से होने लगा।

अंग्रेजी के साथ देशी भाषा में भी शिक्षण की व्यवस्था हुई। इसलिए इस युग के साहित्यकार अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य से प्रभावित हुए। पत्र-पत्रिकाओं के आरम्भ से गद्य विधाओं का विकास अधिक हुआ। यह कन्नड़ भाषा की युवावस्था है।

इस युग में अनुवाद कार्य भी खूब चला। आधुनिक कन्नड में गद्य साहित्य का आरम्भ मुछण्ण नाम से प्रसिद्ध नदविके लक्ष्मी नारायण ने किया। उनके अद्भुत रामायण और रामाश्वमेध काव्य लोकप्रिय है।

अंग्रेजी कविताओं के अनुवाद 'इंग्लिश गीतेगकु' (अंग्रेजी के गीत) के द्वारा श्री बी एम श्री कण्ठय्या ने कन्नड़ कविता को एक नई दिशा दी। कुवेंपु, वेंद्रे, शिव राम कारंत, मस्ति वेंकटेश अय्यंगार, गोपालकृष्ण अडिग आदि आधुनिक साहित्यकारों से कन्नड़ साहित्य सर्वतोमुखी विकास पा रहा है।

मलयालम भाषा का उद्भव और विकास

—— एन० वेंकटेशवरन

केरल राज्य के अधिक से अधिक अधिवासी स्त्री-पुरुषों की बोलचाल की भाषा अथवा मातृभाषा का नाम मलयालम है। मलयालम को अपनी जन्म-भूमि केरल के नाम के आधार पर कई विद्वान् लोग कैरली के नाम से भी अभिसम्बोधित करते हैं।

भाषा-विज्ञान के अनुसन्धानकर्ता विद्वानों के बीच में मलयालम भाषा के उद्भव के सम्बन्ध में विविध प्रकार के मत प्रचलित हैं। उनमें प्रधानतः दो मत ही अधिक महत्वपूर्ण एवं अध्ययन के योग्य माने जाते हैं। एक मत यह है कि प्राचीन काल में मलयालम नामक कोई स्वतन्त्र भाषा न रही थी और उन दिनों चेर साम्राज्य के अन्तर्गत रहने वाले वर्तमान केरल राज्य में प्रचलित भाषा का नाम 'चेन्तमिल खेनतमिल' कोटु तमिल, मलयाम् तमिल, मलनाड् तमिल अथवा 'मलयालमा' था, जिससे यही मानना पड़ता है कि मलैयालम तमिल भाषा से उत्पन्न एक प्रादेशिक बोली मात्र रही थी, जिसका आगे चल कर इतना अच्छा विकास और सुन्दर परिणाम हो गया कि उसे एक अलग स्वतन्त्र भाषा की प्रतिष्ठा, सम्मान और सुनाम सम्प्राप्त हो गया। इस मत का समर्थन भाषा-शास्त्री विद्वान बिशप कांडेवेल, केरल पाणिनी ए. आ. राजराज वर्मा आदि कई महाशयों ने किया है लेकिन आधुनिक काल के अनुसन्धान करने वाले डा. गोदुवर्मा, आदूर कृष्ण पिषारोटी, इलंकुलम कुज्जन पिल्लै, डा. के. एम. जार्ज आदि अनेकों विद्वानों का मत यही है कि मलयालम भी प्राचीन काल से ही तमिल, तेलुगु, कन्नड़, आदि अपनी बहनों की तरह एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में विद्यमान रही थी और उस का उद्भव भी मूल भाषा 'द्राविड' अथवा 'दुमिल' से ही हुआ है। तमिल, तेलुगु, कन्नड़ आदि की तरह मलयालम भी कई कारणों से द्रविड भाषा को ही सर्वथा अपनी जननी मान सकती है, इस में कोई संदेह नहीं है। इसी आधुनिक मत का समर्थन सैकड़ों साहित्यिक एवं ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत करते हुए निर्विवाद रूप से अब किया जा चुका है। इसलिए इसी मत को ज्यादा सही मानना समुचित प्रतीत होता है।

आकाशवाणी, मद्रास से 21 दिसम्बर, 1979 को प्रसारित।

अंग्रेजी के साथ देशी भाषा में भी शिक्षण की व्यवस्था हुई। इसलिए इस युग के साहित्य-कार अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य से प्रभावित हुए। पत्र-पत्रिकाओं के आरम्भ से गद्य विधाओं का विकास अधिक हुआ। यह कन्नड़ भाषा की युवावस्था है।

इस युग में अनुवाद कार्य भी खूब चला। आधुनिक कन्नड में गद्य साहित्य का आरम्भ मुछण्ण नाम से प्रसिद्ध नंदविके लक्ष्मी नारायण ने किया। उनके अद्भुत रामायण और रामाश्वमेध काव्य लोकप्रिय है।

अंग्रेजी कविताओं के अनुवाद 'इंग्लिश गीतेगकु' (अंग्रेजी के गीत) के द्वारा श्री बी एम श्री कण्ठय्या ने कन्नड़ कविता को एक नई दिशा दी। कुवेंपु, बेन्द्रे, शिवराम कारंत, मस्ति वेंकटेश अय्यगार, गोपालकृष्ण अडिग आदि आधुनिक साहित्यकारों से कन्नड़ साहित्य सर्वतोमुखी विकास पा रहा है।

मलयालम भाषा का उद्भव और विकास

— एन० वेंकटेशवरन

केरल राज्य के अधिक से अधिक अधिवासी स्त्री-पुरुषों की बोलचाल की भाषा अथवा मातृभाषा का नाम मलयालम है। मलयालम को अपनी जन्म-भूमि केरल के नाम के आधार पर कई विद्वान् लोग कैरली के नाम से भी अभिसम्बोधित करते हैं।

भाषा-विज्ञान के अनुसन्धानकर्ता विद्वानों के बीच में मलयालम भाषा के उद्भव के सम्बन्ध में विविध प्रकार के मत प्रचलित हैं। उनमें प्रधानतः दो मत ही अधिक महत्व-पूर्ण एवं अध्ययन के योग्य माने जाते हैं। एक मत यह है कि प्राचीन काल में मलयालम नामक कोई स्वतन्त्र भाषा न रही थी और उन दिनों चेर साम्राज्य के अन्तर्गत रहने वाले वर्तमान केरल राज्य में प्रचलित भाषा का नाम 'चेन्तमिल खेनतमिल' कोटु तमिल, मलयाम् तमिल, मलनाडु तमिल अथवा 'मलयालमा' था, जिससे यही मानना पड़ता है कि मलैयालम तमिल भाषा से उत्पन्न एक प्रादेशिक बोली मात्र रही थी, जिसका आगे चल कर इतना अच्छा विकास और सुन्दर परिणाम हो गया कि उसे एक अलग स्वतन्त्र भाषा की प्रतिष्ठा, सम्मान और सुनाम सम्प्राप्त हो गया। इस मत का समर्थन भाषा-शास्त्री विद्वान बिशप कांडेवेल, केरल पाणिनी ए. आ. राजराज वर्मा आदि कई महाशयों ने किया है लेकिन आधुनिक काल के अनुसन्धान करने वाले डा. गोदुवर्मा, आदूर कृष्ण पिषारोटी, इलंकुलम कुञ्जन पिल्लै, डा. के. एम. जार्ज आदि अनेकों विद्वानों का मत यही है कि मलयालम भी प्राचीन काल से ही तमिल, तेलुगु, कन्नड़, आदि अपनी बहनो की तरह एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में विद्यमान रही थी और उस का उद्भव भी मूल भाषा 'द्राविड़' अथवा 'द्रुमिल' से ही हुआ है। तमिल, तेलुगु, कन्नड़ आदि की तरह मलयालम भी कई कारणों से द्रविड भाषा को ही सर्वथा अपनी जननी मान सकती है, इस में कोई संदेह नही है। इसी आधुनिक मत का समयन सैंकड़ों साहित्यिक एवं ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत करते हुए निर्विवाद रूप से अब किया जा चुका है। इसलिए इसी मत को ज्यादा सही मानना समुचित प्रतीत होता है।

आकाशवाणी, मद्रास से 21 दिसम्बर, 1979 को प्रसारित।

तमिल और मलयालम का तुलनात्मक अध्ययन करने से यही विदित होगा कि इन दोनों भाषाओं के व्याकरण, शब्द-भण्डार, रचना-शैली और मुहावरों में बड़ी समानता पायी जाती है।

इसी कारण से कई विद्वानों के मन में यह भ्रम उत्पन्न होने की संभावना है कि मलयालम सिर्फ तमिल की एक शाखा अथवा बोली मात्र है और उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। लेकिन मलयालम भाषा मात्र में खूब प्रचलित कई प्राचीन शब्द जैसे, 'तुन्नलकारन्', 'पीटिक', 'अंडाटि', 'अलियत्', 'अम्मूम्म', 'अप्पूप्पन', 'वच्ची' 'चेट्टन', 'ओप्पा', 'अप्पोल', 'पत्रायम्', 'तौणी', "पनि', 'पुलरि', 'पावु', 'मुण्टु' आदि इस भ्रम को दूर करने के लिए पर्याप्त हैं, क्योंकि इन शब्दों का प्रयोग और प्रचार कदाचित प्राचीनतम द्रविड़ भाषा को छोड़कर तमिल आदि अन्य भाषाओं में कहीं नहीं मिलता है। इसी तरह तमिल में क्रियाओं का प्रयोग और रूपान्तर लिंग-वचनों के भेद के आधार पर जिन नियमों के अनुसार किया जाता है उनका पालन मलयालम में बिलकुल नहीं होता है। मलयालम में तो क्रियाओं का रूपान्तर केवल काल-भेद के अनुसार ही हुआ करता है न कि कर्त्ता के लिंग और वचन के आधार पर भी। यह विशेषता मलयालम की अपनी चीज है जिसका अस्तित्व कदाचित् प्राचीनतम द्रविड़ भाषा में रहा होगा। अतः मलयालम को तमिल से उत्पन्न भाषा अथवा तमिल की शाखा या बोली मानने की अपेक्षा उसकी छोटी बहन मानना अधिक उचित होगा।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मलयालम के विकास में तमिल और संस्कृत का प्रभाव आश्चर्यजनक ढंग से बहुत अधिक पड़ा है। इसी प्रकार अरबी और फारसी के कई शब्द भी मलयालम में पाये जाते हैं। क्योंकि अरब और फारस के साथ केरल का व्यापार बहुत प्राचीन काल से रहता था और उन व्यापारियों की भाषाओं का थोड़ा-बहुत प्रभाव मलयालम पर अवश्य पड़ता था। अरब, मिस्र, पुर्तगाल आदि विविध विदेशों से समय-समय पर केरल आए यहूदियों, यवनों, मुसलमानों और ईसाइयों के सम्पर्क में रहने के कारण उन लोगों की तत्कालीन भाषाओं के प्रभाव से मलयालम का जो रूपान्तर और विकास हुआ था वह कई प्रमाणों से समझाया जा सकता है। इसी प्रकार जैन और बौद्ध लोगों की धार्मिक भाषा 'पालि' या 'प्राकृत' के प्रभाव से भी मलयालम के विकास की प्रक्रिया में काफी प्रगति अवश्य हुई है।

मैसूर के सुलतान हैदरअली, टीपू आदि चन्द मुसलमान शासकों के आक्रमण और आधिपत्य के कारण भी मलयालम भाषा पर 'दक्खिनी हिन्दी' और उर्दू का भी थोड़ा बहुत प्रभाव अवश्य पड़ा है। इसलिए आधुनिक मलयालम में संस्कृत और तमिल के

अलावा उर्दू, फारसी, अरबी, पुर्तगाली जैसी भाषाओं के कई शब्द अपने तत्सम और तद्भव रूपों में प्रचलित हैं ।

प्राचीन काल से लेकर आर्यजाति के लोगों के सम्पर्क में रहने के कारण संस्कृत भाषा के प्रभाव में मलयालम का प्राचीन रूप बहुत कुछ बदलता गया और मणिप्रवालम नामक एक संस्कृत मिश्रित रचनाशैली का प्रचार और प्रोत्साहन जोरों से बढ़ता रहा, जिससे मलयालम का आधुनिक रूप 'मणिप्रवालम' शैली से सम्पूर्ण रूप से समलंकृत एवं सुप्रभावित हो गया है । अतः आधुनिक मलयालम में संस्कृत के पचास या साठ फी-सदी शब्द और प्रयोग उपलब्ध होते हैं । इसी नवीन रूप को देख मलयालम की महिमा और गरिमा का परिचय देते हुए एक प्रसिद्ध कवि गाते हैं :—

आर्यद्राविड वाकजाता
केरलीयोक्ति कन्यका ।
एतत् सूत्रवरारोहा
प्रसूताप्रौढ सम्मता ।
संस्कृत हिमगिरि गलिता
द्राविड भाषा कलिन्द्र जामिलिता
केरल सुर-सरि-गंगा
विहरतु में हृदसरसिता भंगा ।

केरल के आंचलिक विभेदों के कारण तथा अन्यान्य भाषा-भाषी भाई-बहनों के सत्संग और सहयोग की वजह से मलयालम की विविध प्रकार की सुमधुर बोलियां भी इस समय प्रचलित हैं । उनमें 'नम्पूतिरी मलयालम', 'माप्पिला मलयालम', 'तेक्कन मलयालम', 'वटक्कन मलयालम', 'कोंकिणी मलयालम', 'तुलु मलयालम' आदि बोलियां अपनी आंचलिक विशिष्टताओं से तथा उच्चारण भेद और प्रयोग चमत्कार के कारण अत्यन्त श्रुतिमधुर एवं विनोद-जनक प्रतीत होती हैं ।

अंग्रेजों के शासन-काल में मलयालम भाषा की रचना-शैली में तथा नये-नये शब्दों के प्रयोग में जो विशेष क्रान्ति हुई है, उसका महत्व सचमुच स्मरणीय है । इसी प्रकार हिन्दी प्रचार आन्दोलन के कारण भी मलयालम भाषा पर हिन्दी का भी काफी प्रबल एवं प्रशंसनीय प्रभाव अवश्य पड़ा है ।

मलयालम की वर्णमाला संस्कृत पर या नागरी के बराबर ही है। तमिल के समान नहीं है। लेकिन नागरी वर्णमाला की अपेक्षा दो-चार वर्ण भी मलयालम में अधिक मिलते हैं। मलयालम की अपनी अलग लिपियां भी है जो वट्टेयुत्तु और ग्रन्थाक्षरों के सुधारे हुए रूप में बनायी गयी हैं। ये लिपियां अत्यन्त सुन्दर, सुचालित एवं सम्पूर्ण हैं। यद्यपि नागरी लिपियां मलयालम की निजी लिपियों की तरह सम्पूर्ण नहीं है, तो भी उनके सहारे से भी मलयालम भाषा अच्छी तरह लिखी और पढी जा सकती है। लेकिन मलयालम के दो-चार वर्णों के शुद्ध उच्चारण के लिए नागरी लिपियों में कहीं-कहीं कुछ विशेष प्रकार के चिन्हों का उपयोग करना अनिवार्य होगा। अतः भारत की राष्ट्रलिपि अथवा सामान्य लिपि के रूप में नागरी लिपि को स्वीकार करने के प्रस्ताव का ही विरोध शायद मलयालम के भावुक एवं भक्त लोग करते हैं।

मलयालम भाषा का विकास संस्कृत, तमिल आदि अन्यान्य भाषाओं के सम्पर्क और सहयोग के कारण जितना हुआ है उतना ही यहां समय-समय पर होने वाले राजनैतिक, प्रशासनिक, सामाजिक, धार्मिक, भौगोलिक, एवं वैज्ञानिक, परिवर्तनों से भी अवश्य हुआ है। चूंकि केरल के लोग परिश्रमशील एवं शिक्षा-प्रेमी होते हैं इसलिए उनमें बहुत से लोग संसार-भर के विविध राष्ट्रों में पर्यटन करने वाले प्रवासी भी होते हैं। अन्यान्य देशों तथा परिस्थितियों के सम्पर्क में रहने की सुविधा पाने के कारण यहां के कई लोग अपनी भाषा और साहित्य के नूतन एवं स्वतन्त्र विकास के लिए अनुकूल भूमिका तैयार करते हैं। उसका प्रभाव भी मलयालम के विकास की प्रक्रिया में अवश्य पाया जाता है। आधुनिक मलयालम में साहित्य की विविध प्रकार की सभी विधाओं का विकास और निर्माण बराबर बढता ही रहता है। हजारों मौलिक एवं विभिन्न भाषाओं से अनूदित रचनाओं तथा पत्र-पत्रिकाओं का प्रचार मलयालम में प्रतिदिन होता ही रहता है। इसके अलावा वैज्ञानिक, सांकेतिक, तकनीकी, गवेषणापरक विषयों के मौलिक और महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी मलयालम में आजकल बराबर बढ़ते ही रहते हैं। इसी संदर्भ में यह बात स्मरण में आती है कि भारत में कार्यान्वित साहित्य पुरस्कार योजना के अन्तर्गत सबसे प्रमुख ज्ञान-पीठ पुरस्कार के प्रथम-विजेता महाकवि जी शंकर कुरुप मलयालम भाषा के साहित्यकार हैं।

अतः साहित्य की संपन्नता और सम्पूर्णता की दृष्टि में मलयालम भाषा का मूल्यांकन किया जाए तो हम निस्संदेह यह कह सकते हैं कि भारत की अन्यान्य भाषाओं के बराबर इसका भी विकास और वृद्धि अवश्य हो रही है। वास्तव में मलयालम भाषा और उसका साहित्य अत्यन्त आधुनिक एवं सर्वांगपूर्ण है।

उड़िया भाषा का उद्‌भव और विकास

—अपन्ना प्रधान

उडिया भाषा का उद्‌भव भी अन्य भारतीय आर्य भाषाओ की तरह सन् 1000 से माना जाता है। इसकी सहचरी भाषाएं बंगला, असमिया, मगही, मैथिली आदि का उद्‌भव भी प्रायः उसी समय यानी 10वी सदी तक पूर्व अपभ्रंश के परिनिष्ठित रूप अवहट्‌ट से हुआ है। अवहट्‌ट के उदाहरण हमें चर्या-गीतों में उपलब्ध है। ये चर्या-गीत दोहों के रूप में पाये जाते हैं। हेमचन्द के सिद्धहेम शब्दानुशासन में अवहट्‌ट के कई उदाहरण प्राप्त है। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा यानी वैदिक और संस्कृत का समय ई. पू. 1250–600 है। मध्य भारतीय आर्य भाषा का समय ई. पू. 600 से सन् 1000 तक है, जिस में अशोकीय अभिलेख, हाथी गुंफा लेख, प्राकृत की रचनाए तथा अपभ्रंश और अवहट्ट है।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा मे स्वर–अ, इ, उ, आ, ई, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ; ऋ, ॠ, लृ, ॡ, तथा व्यंजन तैंतीस थे। म. भा. आ. भाषा मे स्वरों की संख्या घट कर आठ हो गई (अ, इ, उ, आ, ई, ऊ, ए, ओ)।

विकास अ, इ, उ, के रूप में हुआ। जैसे–मृग–मगो, कृत्वा–कदुअ, मृग-मिग, मृदंग-मुइंग। व्यंजनों में 'ण' का प्राचुर्य है। स् का प्रयोग 'श' और 'ष' की जगह हुआ है। 'व' की जगह 'ब' का भी प्रयोग हुआ है। शब्दान्त में व्यंजन नहीं रहा। विषम व्यंजनों का समीकरण हो गया जैसे–कर्म—कम्म, चक्र-चक्क आदि।

कारकों की संख्या कम हो गई। द्विवचन का लोप हो गया। जटिल शब्द रचना सरल हो गई, कर्त्ता और सम्बोधन समरूपी हो गये। सम्प्रदान और अपादान बहुवचन में एक हो गये। व्यंजनान्त शब्दों के न रहने के कारण रूप रचना में केवल स्वरान्त प्रतिपदिक ही मिले। मध्य भारतीय आर्य भाषा की द्वितीय स्थान पर संबंध का प्रयोग होने लगा और अपभ्रंश में अपादान समा गया।

आकाशवाणी से 11 जनवरी, 1980 को प्रसारित।

मध्य भारतीय आर्य भाषा के क्रिया रूप सरल हो गये । अवहट्ट तक आते-आते भारतीय आर्य भाषाएं भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण कर चुकी थी । वैसे म. भा. आ. भाषा के अशोक के अभिलेखों में विभाषागत अन्तर दिखाई देता है ।

13वीं सदी तक ये भाषाए पूर्णतः विकसित हो गई थीं । उड़िया के निदर्शन हमें चर्या-गीतों में मिलते हैं । उदाहरण--(कान्हुपाद के पद) नगर बाहिरे रे डोम्बितोहरि कुडिया/च./तोहर अन्तर मोए धालिलि हाडेरि मालि/ अशोक और खारवेल के अभिलेखों से यह प्रमाणित हो जाता है कि कलिंग आर्य भाषा और आर्य संस्कृति का क्षेत्र था । यह समय ई. पू. तीसरी सदी से ई. सन् की प्रथम सदी के प्रथमार्ध तक का है । सर्वनाम रूपों को लीजिए--/सि/'वह', /जो/'जिस',/तो/'तुझे',/'मो'/'मेरा',/अम्हे/ 'हम' आदि । ये शब्द आज भी ओड़िया में है । क्रिया रूपों को लें तो देखेंगे कि-- पढइ, मणइ, मणति आदि प्राचीन और मध्ययुगीन ओड़िया भाषा में उपलब्ध हैं । संख्यावाची शब्दों से, पता चलता है कि ओड़िया में प्रयुक्तचर्या दुइ, वेनी, भी ओड़िया में अविकल, सुलभ है । च./मोडिअ/ओ./मोडि/'धुमाकर' च.-सुन/ओ/सुन/'शून्य', च./मझे/ओ./मझि/च./राति, पोहाइली/शेजि/दाइलि/आदि उदाहरणो से ज्ञात है कि चर्या की भाषा ओड़िया की पूर्ववर्ती यानी प्रत्न ओड़िया है । चर्या के/क/ओर/कु/ परसर्गों में से ओड़िया में/कु/ उपलब्ध है । च./ठाकुरक/ओ./ठाकुरकु/प्राचीन ओड़िया म/मुकु/'मुझे'/तुकु/'तुझे' आदि प्रयोग चर्या-पदों में भी पाए जाते है ।

उड़िया भाषा के विकास की चर्चा करते समय हम इसे तीन स्तरो में वर्गीकृत करें तो विकास का सही रूप मालूम होगा । उड़िया के प्राचीन युग का समय ई. 1000 से 16वीं सदी तक-अभिलेखों, मादकपांजि, रुद्र सुधानिधि, सारला महाभारत आदि । मध्ययुग 17वीं सदी से 19वीं सदी के आरम्भ तक की सामग्री जगन्नाथ का भागवत, अच्युतानंद का हरिवंश पुराण, जनमोहन रामायण, अभिमन्यु की विदग्ध चिन्तामणि, ब्रजनाथ बडजेना के काव्य समर तरंग, तथा गद्य रचना, 'चतुर विनोद' आदि में प्राप्त है । तृतीय या आधुनिक युग--राधानाथ राय के ग्रन्थ महाजात्रा दरबार, पार्वती, चन्द्रभागा आदि फकीरमोहन सेनापति का बचा साहित्य-मामु, छमण आठगुण्ठ, गछमा, गल्प स्वरूप और मधुसूदन राओ की काव्य-कविताएं आदि से यह युग प्रारम्भ होता है ।

उड़िया अभिलेखों की भाषा उरजाम गाय में प्राप्त अभिलेख की भाषा-सामग्री में मिलती है । इसकी विशेषताएं देखिए-तुला मास शुकल पक्ष दिन पंचमि सणिवार रमु पुरुज मेलण दय करिला/'तुला मास शुक्ल पक्ष पंचमी शनिवार के दिन पुरुज मेले

में दया की/,इसमें "करिला" क्रिया का प्राचीन ओड़िया में प्राचुय है। दीर्घ/ई/या /ऊ/ का अभाव है। /तिनी/'तीन' बाद की ओड़िया में/तिनि/तिन/थिलाइ/थिला/ 'था' आदि

उड़िया में समस्त स्वर संस्कृत–पालि प्राकृत और अपभ्रंश, अवहट्ट से होते हुए आए हैं, पर ओड़िया में आते-आते इनमें बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है। उड़िया में उपलब्ध स्वर ध्वनिग्राम हैं। अ, आ, इ, उ, ए, ओ/व्यंजनों की संख्या है–16 स्पर्श, चार स्पर्श-संघर्षी, चार नासिक्य, दो पार्श्विक/ल,ळ/एक लंठित, दो अन्तस्थ और दो ऊष्म चार नासिक्य में से/ङ/और/ण/ का आद्य स्थिति में प्रयोग नहीं होता/ङ/का प्रयोग सवर्गीय व्यंजनों के साथ ज्यादा है। हिन्दी की तरह/ल्ह, र्ह, न्ह, म्ह/आदि महाप्राण ध्वनिग्राम उड़िया में अप्राप्य हैं। पर संयुक्त व्यंजन के रूप में उनका प्रयोग सुलभ है। अनुनासिकता का महत्व है और सब स्वरों के साथ यह पायी जाती है। बंगला में /व/और/य/ ध्वनिग्राम नहीं हैं किन्तु उड़िया में उपलब्ध हैं यद्यपि आद्य स्थिति में कम है।

उड़िया/अ/ पश्च और अल्पगोलित हो गया है। म. भा आ. भाषा के दीर्घ स्वर उड़िया में नही है, बंगला और असमिया की स्थिति भी ठीक उसी तरह की है यद्यपि/क/ अन्य पूर्वी भाषाओं में नहीं है, उड़िया में यह प्रचुर मात्रा में है। यह ध्वनिग्राम प्रा. भा. आ. भाषा का एकक/ल/ से विकसित हुआ है, जैसे–प्रा. भा. आ. भाषा /फल/ ओ/ फक्क/ प्रा. भा. आ. भाषा का /काल/ओ./काक/ परन्तु प्रा. भा. आ. भाषा का/ संयुक्त व्यंजन वाला /ल्ल/ओड़िया में/ल/ के रूप में विकसित हुआ है। उदाहरण प्रा. भा. आ. भाषा/कल्य/प्राकृत/कल्ल/ओ./कालि/प्रा. भा. आ. भाषा /विल्व/म.भा. आ. भाषा/वॅल्ल/ओ. बेल/।

उड़िया तथा अन्य पूर्वी भाषाओं में संस्कृत/र/ का/ल/ या ळ/हो गया है। जैसे ओ /चारि, सि/, बंगला/चोलिश/, स /चत्वारिंशत/संस्कृत/र/ का ओड़िया में/ड/ हो गया जैसे सं. आदि/ओ./ओडि/'खेत की मेंड'। /सं/ से विकसित हुआ है जैसे–/छिच/ सं. सिञ्च प्राकृत/सिंचइ/। कभी-कभी मूर्धन्य/ष/–/ख/ हो जाता है। उड़िया बगंला, भोजपुरी आदि में/भाखा/भाषा के लिए प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत/त्स/संयुक्त, व्यंजन उड़िया बंगला और मैथिली में/च्छ/ होता है। जैसे–ओ/मउच्छ, मउछव /सं/ महोत्सव/उड़िया बंगला/कुच्छित/कुत्सित/। कभी-कभी कथ्य भाषा में,च्छ/का/ /श्च/ होता है। जैसे–ओ.उश्चव/सं./उत्सव/ओ./कुश्चित/सं/कुत्सित/ये विपमीकरण के उदाहरण है।

संस्कृत/व/ पूर्वी भाषाओं में शब्द की आद्य स्थिति में /ब/ हो गया है और बहुधा मध्यस्थिति में भी। ओडिया शब्दों की अंत्य स्थिति में व्यंजन प्रायः नहीं आते। बहुत कम आगत शब्दों में/व/ और/ब/ आते हैं । ओड़िया /छ/ सं./क्ष/से आया है। जैसे/सांछि । –साक्षी/परिछा/–/परीक्षा /(दोनों अभिलेख में हैं) समकच्छ/ समकक्ष (सरला महाभारत) छिन/–/क्षीण/ प्राचीन ओड़िया/छरिवा/सं./क्षर। प्राचीन ओडिया में स आज्ञा के लिए/आइसा/आग्या/(दन्द्रहवी नदी अभिलेख)। /राइज/"राज्य" (मादका, अभिलेख) । /आई/का/एई/में विकसित होना ओडिया की खास विशेषता है – /काराइवा/–/करेइवा/हसाइबा/–/हसेइवा/,सताइसि/–/ सतेइसि/इसे तमिल उच्चारण रीति माना जाता है।

शब्द रूप रचना में ओडिया में अवहट्ट की तरह सरलता आ गई है। कारक रूपों में /कु/ का प्राणिवाचक तथा अप्राणिवाचक दोनों प्रयोग होता है। इसका प्रयोग कर्म और सम्प्रदान दोनों के लिए होता है। अन्य रूप-देइ, द्वारा, निमित्ति, पाई, ठारे, स्थाने, आदि का क्रमशः करण, सम्प्रदान, अधिकरण अर्थ में व्यवहृत होता था अपादान में/–उ,–रु/ का प्रयोग पाया जाता है। सर्वनामों का विकास प्रा. भा आ. भाषा तथा मध्ययुग से हुआ है। कभी/इप/ 'में' प्राआ, अ./मुई/अवहट्ट/मइ/,प्राकृत/ म्मए/–प्रा. भा. आ. भाषा/मया/एन/आमे, आम्मे/म. भा. आ. भाषा/आम्हे/प्रा. भा आ. भाषा/अस्मे/तु, तुई/–निय प्राकृत/तु, तुओ/-प्रा. भा. आ/ भाषा/त्वम/तुमे/ तुम्मे/–म. भ. भा. आ. भाषा तुम्हे-प्रा. भा. आ. भाषा तुस्मे। ओड़िया/आम्मर/'हमारा'–अपभ्रंश/ अम्हार/–प्रा. भा. आर्यभाषा अस्माक–र–कार । ओ./तुम्मर/–अपभ्रंश/तुम्हार, तुहार ओ /एहा/'यह'–म. भा. आ. भाषा एसो–स एष.।

केवल/कोड़िए/और/हजार/को छोड़ कर बाकी सब संख्या वाले शब्द ऐतिहासिक रूप से आर्य निष्पन्न हैं। कोड़िए/मुण्डा परिवार का और /हजार/अरबी–फारसी है। क्रियाओं की रचना में हमें चार काल-वर्तमान, भूत, भविष्यत और सानुबन्ध उपलब्ध हैं। ऐतिहासिक रूप में वर्तमान अनिर्दिष्ट और अनुज्ञा भाव है। भूत कालिक प्रत्यय/–ल–, इल– म. भा. आ. । –द–/–इल्ल/– प्रा. भा. आ. भाषा/–त/सेविकसित है। भविष्यत कालिक प्रत्यय/–ब,–इ ब–/ का विकास म. भा. आ.भाषा/–इव्व/–जो– प्रा. भा. आ. भाषा/–इतव्य/से विकसित हुआ है / सानुबंध काल का विकास वर्तमान कृदंत प्रत्यय–/ अन्त/से हुआ है । ओ/अछ/बहुभाषित क्रिया है वर्तमान-सरल अनिर्दिष्ट काल-उत्तम पुरुष एक वचन/खाइए खाए/, अछइ, अछि/उ. पु. बहुवचन/ अछुं/(प्राचीन रूप) मध्यम पु. एकवचन/खाउ/सारला महाभारत में प्रा. भा. आ.

भाषा के अवशिष्ट रूप मध्यम पुरुष ब. व. /पुच्छसि. जासि/प्राप्त हैं। /–अ/रूप/खाअ/ अन्य पुरुष बहुवचन/अन्ति/:खाआन्ति/–खाअन्ति–खादन्ति (सं) से आया है।

अपूर्ण वर्तमान की रचना सहायक क्रियां से होती है, ये/उः/ वाले विकरण युक्त क्रिया से मिल कर बनती है। जैसे/खाउ/–प्रा. भा. आ. भाषा खाद–खादन् ।/खाउ अछि/, अभिलेख में–/जेणंउ अछि,/खाउ अछु–खाउछु। पूर्ण वर्तमान में /खाउ/को जगह/खाई/आता है जैसे–/खाई–अछि खाइछि/ अपूर्ण अविच्छिन्न/खाई आसुअछि/ "खाता आ रहा है पूर्ण अविच्छिन्न/खाई आसि अछ/खाता आया हो।" भूतकालिक क्रिया के उदाहरण हैं –प्राचीन/दिल/ आधुनिक/देला/ प्राचीन/घेतला ब. व./देले नेल/म. पुरुष एक वचन/कलु/म. पु. ब. व./कलं/उ. पु. ए. व./–कलि/, उ. पु. ब. ब./कलु/ भविष्यत काल की स्थिति भी ठीक भूत की तरह है। उ. पु./करिबि/ ब. व./करिबु/– म. प्र. ए. व./म. पु. ब. व. करिब–अन्य ए. वचन/अन्य पु. ए. व./करिबे।

सानुबन्ध काल–करन्ति, करन्तु, करन्तु, करन्त, आदर सूचक करन्ते, करन्तो, करन्ते अनुज्ञा–/मुजाए/, आमे जाऊं/तुजा/तुमे जाअ/ द. बोली–/तुझे ज/आपण जाआन्तु/ से/आउ/,/संमाने जाआन्तु।

सम्भावक भाव में–/जदि, जेबे का प्रयोग होता है। उदा./जदि से थासिबे मु जिबि/,/जेबे/सार का मैं/स्वामी जेबे लिक्खने तु कलु शास्त्र ओगे/मो, स्वामी, जब तुमने शास्त्रानुसार लिखा है। कर्मवाही प्रयोग भी ऐतिहासिक रूप में कम प्राप्त है, जैसे/ बोलीए, कराए/आदि।

उड़िया लिपि का विकास ब्राह्मी की दक्षिणी शाखा से हुआ है। ताड़पत्र पर लिखे जाने के कारण अक्षर का ऊपरी भाग गोलाकृत हो गया है। गोलाकृत अंश अधिक है और अक्षर का वास्तव अंश कम है। शिरोरेखा सीधी लकीर में खीचने पर ताड़ के पत्र फट जाते थे, शायद इसी लिए अक्षर का ऊपरार्द्ध गोल कर दिया गया है।

पंजाबी भाषा का उद्भव और विकास

—डा० प्रेम प्रकाश सिंह

भारतीय आर्य भाषा परिवार में पंजाबी भाषा का एक विशिष्ट स्थान है। भारत के पंजाब प्रदेश की राज्य भाषा पंजाबी है। परन्तु पंजाबी का प्रचलन और प्रयोग वर्तमान भारतीय पंजाब की भौगोलिक सीमाओं से बाहर भी मिलता है। पाकिस्तान के पंजाब प्रांत में यद्यपि, उर्दू ही प्रशासकीय भाषा के रूप में स्वीकृत है तथापि वहां के जन-जीवन में पंजाबी का प्रचुर मात्रा में व्यवहार होता है। हमारे यहां राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल, जम्मू-कश्मीर तथा दिल्ली प्रदेश में यत्र-तत्र पंजाबी का प्रचलन है। निस्सन्देह पंजाबी एक सुदीर्घ क्षेत्र में व्याप्त जन-समुदाय की जीवित और प्रचलित भाषा है।

परन्तु विचारणीय विषय यह है कि पंजाबी का वह कौन सा भाषा स्रोत है जहां से इसका उद्गम माना जाए और यह भी प्रश्न विचारणीय है कि पंजाबी का कब और कैसे विकास हुआ है। यह प्रश्न जितना सरल दिखता है, उतना ही जटिल एवं अनिर्णीत है। इसके कतिपय कारण उल्लेखनीय हैं। सब से प्रमुख कारण तो यह है कि पंजाबी भाषा के विधिवत् अन्वेषण और वैज्ञानिक अनुशीलन की ओर विद्वानों का ध्यान प्रायः नहीं गया है। इसका कारण यह रहा है कि पंजाब आदिकाल से विदेशी आक्रमणकारियों का लक्ष्य रहने के कारण लगातार उपद्रवों तथा युद्धों के वातावरण में पनपता रहा है। परिणामतः यहां न कोई प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थ मिलता है और न यहां सांस्कृतिक अवशेष पाये जाते हैं जिनसे पंजाब की प्राचीन भाषा और संस्कृति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता हो। परिस्थितियों की यह एक विडम्बना है कि जहां भारतीय भाषाओं के अन्य क्षेत्रों में अशोककालीन अथवा गुप्तकालीन शिलालेख या अन्य प्रलेख मिलते हैं वहां समस्त पंजाब के क्षेत्र में से ऐसा कोई प्रामाणिक पुरालेख प्राप्त नहीं हुआ है जिससे पंजाब की प्राचीन भाषा के स्वरूप का दिग्दर्शन हो सके।

इस सन्दर्भ में इस समस्या का एक अन्य पहलू भी चिन्तनीय है, वह है प्राचीन काल में पंजाब तथा पंजाबी के नामकरण के विचार में संदिग्धता। भारत के गुजरात,

---

आकाशवाणी जालन्धर से 5 अक्तूबर, 1979 को प्रसारित।

सौराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश आदि प्रदेशों के क्षेत्रीय नाम बहुत प्राचीन काल से प्रचलित मिलते हैं। परन्तु पंजाब का प्राचीन नाम अभी तक सुस्पष्ट नही है। अनुमान है कि वैदिक ऋचाओं में जिस सप्तसिन्धु का पुनः-पुनः उल्लेख हुआ मिलता है वह आज का पंजाब ही है। महाभारत काल में पंजाब को पंचनद कहा जाता रहा होगा, ऐसी संभाव्य कल्पना की जा सकती है। कई बार इसे पशंचाल भी कहा गया होगा, ऐसे अपुष्ट निर्देश पाये जाते हैं। परन्तु पंजाब का ऐसा कोई सर्वमान्य नाम उपलब्ध नहीं होता जो वर्तमान पंजाब की विगत संस्कृति, साहित्य तथा भाषा का परिचायक बन सकता हो। पंजाब तथा पंजाबी नाम तो बहुत इधर की बात है किन्तु इससे पंजाबी के उद्‌गम पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

इस प्रकरण में एक और बात भी द्रष्टव्य है। प्राचीन पंजाब प्रदेश में यवन शक, हूण सिथियन, तुर्क, मंगोल आदि आर्येतर भाषा-भाषी लोग आकर आवास करते रहे और अपनी पंजाबीतर भाषा को इस पर लादते रहे। इस समिश्रण से पंजाबी भाषा की सहज प्रकृति और भाषाई स्वरूप इस तरह विकृत होता रहा कि इसे कई बार अनादि वाहीक, वाहूलीक आदि अप्रिय नामों से पुकारा जाता रहा। इसी परिप्रेक्ष्य में प्राचीन काल में पंजाब के प्रति आर्य जातियों का उपेक्षाभाव व्याख्येय होता है।

इन सभी कारणों का परिणाम यह हुआ है कि पंजाबी भाषा के उद्‌गम को निर्णीत करने में ऐतिहासिक अन्तः साक्ष्य के रूप में आवश्यक तथ्यों का अभाव आज भी बाधक बना हुआ है। इन विषम परिस्थितियों के बावजूद भाषा शास्त्र के विद्वान बहिः साक्ष्यों पर आश्रित होकर पंजाबी भाषा के उद्‌गम के विषय में अग्रसर हुए हैं। इस सन्दर्भ में डा. जार्ज ग्रियर्सन का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। ग्रियर्सन ने अपने बृहत्काय ग्रन्थ Linguistic Survey of India में पंजाबी को लंहदी तथा पूर्वीय पंजाबी को पृथक भागों में विभक्त कर पश्चिमी पंजाबी लंहदी को पैशाची प्राकृत से उत्पन्न हुई माना है और पूर्वीय पंजाबी को शौरसेनी प्राकृत से। डा. ग्रियर्सन का यह भी मन्तव्य है कि पंजाबी का मूल भाषाधार पैशाची प्राकृत है जिस पर कालान्तर में शौरसेनी प्राकृत का प्रभूत प्रभाव पड़ा है। दोनों स्थितियों में ग्रियर्सन पैशाची के पक्षधर हैं। पंजाब के ख्यातनामा विद्वान डा. बनारसी दास जैन और मराठी भाषा के डा. पाण्डुरंग दामोदर गुणे ने ग्रियर्सन का अभिमत स्वीकृत किया है।

परन्तु विद्वानों का एक अन्य वर्ग जार्ज ग्रियर्सन से सहमत नहीं है। डा. धीरेन्द्र वर्मा का विचार है कि लंहदी और पंजाबी पृथक भाषाएं हैं परन्तु इन का सम्बन्ध

कैकेय प्राकृत से है। डा० भोलानाथ तिवारी ने भी अपनी पुस्तक 'सामान्य भाषा विज्ञान' में पश्चिमी तथा पूर्वी पंजाबी को कैकेय अपभ्रंश से ही उद्भूत हुई माना है। हाल ही में पाकिस्तान में जनाब ऐनलहक फरीदकोट की उर्दू पुस्तक 'उर्दू जबान की क़दीम तारीख' का प्रकाशन हुआ है। इसमें लिखा है कि पंजाबी भाषा तथा दूसरी अन्य बोलियाँ यथा मुलतानी धन्नी, पोठोहारी, भवाणकारी, हिन्दकी आदि का आर्य भाषा तथा संस्कृत से कोई सम्बन्ध नहीं है प्रत्युत पंजाबी का मूल-स्रोत तो द्राविड़ी भाषा है जिसके भग्नावशेष मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा में आज भी दृष्टव्य है।

इस प्रकार हमारे समक्ष चार अभिमत उपस्थित हुए हैं :

1. पंजाबी का उद्गम पैशाची प्राकृत से है।
2. पंजाबी का उद्गम-स्रोत शौरसेनी प्राकृत है।
3. पंजाबी कैकेय प्राकृत से विकसित भाषा है।
4. पंजाबी का मूल द्रविड़ भाषा है।

अब हम इन में से प्रत्येक अभिमता की समीक्षा करेंगे। जार्ज ग्रियर्सन ने पंजाबी को लहंदी तथा पूर्वी पंजाबी दो पृथक भाषाओं में बाँटने का जो उपक्रम किया है उसके प्रति भारतीय भाषाविदों की एक तीक्ष्ण प्रतिक्रिया उजागर हुई है। पंजाबी के भाषाविद् प्रिंसिपल तेजा सिंह, डा. मोहन सिंह दीवाना, डा. भाई जोधसिंह ने ग्रियर्सन के इस सिद्धांत का सशक्त शब्दों में खंडन किया है और इस तथ्य पर बल दिया है कि पाकिस्तान की पश्चिमी तथा पूर्वी पंजाबी दोनों पृथक भाषाएं नहीं हैं वरन् वे एक ही भाषा की दो उपशाखाएं हैं। इस दिशा में उन्होंने ठोस तर्क उपस्थित किए हैं। एक तो यह कि विभक्त पंजाब के दोनों क्षेत्रों के लोग एक दूसरे की बातचीत को अनायास ही समझ पाते हैं। और दूसरा यह कि पंजाबी का समग्र प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य पंजाबी भाषा के उसी रूप में रचा और लिया गया है जिसे मुलतानी या लहंदी कहा गया है। पंजाबी तथा हिंदी के लब्धप्रतिष्ठित विद्वान डा. हरदेव बाहरी ने अपने एक शोधपत्र 'पंजाबी ते लहंदी' में भ.षाई तर्कों को प्रस्तुत कर यही निष्कर्ष निकाला है कि पंजाबी तथा लहंदी एक ही भाषा की उपभाषाएं हैं। इस विवेचन से डा. ग्रियर्सन की यह स्थापना स्वतः खंडित हो जाती है कि पंजाबी और लहंदी या लंहदा पृथक-पृथक भाषाएँ हैं और दोनों का उद्गम पृथक प्राकृतों से हुआ है।

अब हम पंजाबी तथा पैशाची के जन्य-जनक भाव का अवलोकन करते हैं। पैशाची में कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है ऐसा तो सभी अंगीकार करते हैं परन्तु पैशाची विषयक निर्देशों से हमारा साहित्य भरा पडा है। प्राकृत वैयाकरणों ने जिन में वररुचि मार्कण्डेय, लक्ष्मीधर, हेमचन्द्र, त्रिविक्रम प्रमुख हैं, प्राकृत भाषाओं के अन्तर्गत पैशाची की गणना की है। तेरहवी शती के प्राकृत वैयाकरण त्रिविक्रमदेव ने अपने व्याकरण प्राकृत शब्दानुशासनम् के तृतीय अध्याय मे पैशाची तथा चूलीका-पैशाची के भाषा लक्षण सूत्रवद्ध किये हैं। द्वितीय पद्य के पैंसठवें सूत्र में कहा है कि चूलिका पैशाची में संस्कृत के/ग, ज, ड, द, ब, तथा घ, झ, ढ, ध, भ,/ध्वनि वर्ण कमशः/क, च, ट, त, प/ और ख, छ, ठ, थ, फ/वर्णों में परिणत हो जाते हैं। इसी प्रकार ट-वर्ग का त-वर्ग हो जाता है। पैशाची के इन विशिष्ट लक्षणों की जब हम पंजाबी के सन्दर्भ मे तुलना करते हैं तो पंजाबी के वर्ण समूह की प्रवृत्ति पैशाची से सर्वदा विपरीत मिलती है। संस्कृत शब्द नगर का पैशाची मे नकर, मदन का मतन, बालक का पालक प्रतिमा का पडिमा बन जाता है जहां/ग/ध्वनि /क/ ध्वनि में परिवर्तित हुई है। परन्तु पंजाबी मे पैशाची के विपरीत बहुधा/क/का/ग होता है। अर्थात् संस्कृत व्युत्पन्न शब्दो की क-ध्वनि के पंजाबी में ग- ध्वनि मे बदल दिया जाता है या संस्कृत शब्द भक्ति को पंजाबी में 'भगत' तथा 'युक्ति' को 'जुगती' बना दिया जाता है। यही प्रवृत्ति अन्य वर्णों के विपर्यय में भी प्राप्तव्य है। पैशाची के अन्य भाषा लक्षणों का पंजाबी की ध्वनि प्रकृति से सर्वथा वैषम्य दीखता है। अतः ग्रियर्सन का यह सिद्धान्त तथ्यो के प्रकाश में स्वीकार्य नहीं बन पडता कि पंजाबी का उद्गम पैशाची भाषा से हुआ है। यह सम्भव है कि भौगोलिक दृष्टि से पैशाची पंजाबी प्राकृत की प्रतिवेशिनी भाषा रही हो जिसका यत्किंचित् प्रभाव पंजाबी पर भी पडता रहा होगा।

अब हम दूसरे अभिमत की समीक्षा करते हैं जिसके अनुसार पंजाबी का उद्गम शौरसेनी से हुआ है। शौरसेनी आर्यावर्त के मध्यदेश की प्राकृत भाषा थी जिसे शूरसेन का नाम दिया जाता था। मथुरा और उसके आसपास के ब्रज प्रदेश को शूरसेन कहते हैं। क्षेत्र वाचक शब्द शूरसेन से ही भाषा वाचक शब्द शौरसेनी की व्युत्पत्ति हुई है। शौरसेनी से ही आज की राष्ट्रभाषा खड़ी बोली का विकास हुआ है जिसे संविधान में हिन्दी कहा गया है भौगोलिक दृष्टि से देखे तो प्रत्यक्षतः शौरसेनी का क्षेत्र पंजाब की सीमा से बिल्कुल सटा हुआ है। इससे शौरसेनी प्राकृत पंजाबी की पड़ोसी भाषा बन पड़ती है। पड़ोसी भाषा होने के नाते शौरसेनी और उससे विकसित आधुनिक भाषाओं का पंजाबी पर गहरा प्रभाव डालते रहना एक वास्तविकता है परन्तु शौरसेनी का पंजाबी भाषा का मूल स्रोत होना संदिग्ध है।

कैकेय प्राकृत से है। डा० भोलानाथ तिवारी ने भी अपनी पुस्तक 'सामान्य भाषा विज्ञान' में पश्चिमी तथा पूर्वी पंजाबी को कैकेय अपभ्रंश से ही उद्भूत हुई माना है। हाल ही में पाकिस्तान में जनाब ऐनलहक फरीदकोट की उर्दू पुस्तक 'उर्दू जबान की क़दीम तारीख' का प्रकाशन हुआ है। इसमें लिखा है कि पंजाबी भाषा तथा दूसरी अन्य बोलियां यथा मुलतानी धन्नी, पोठोहारी, जयाफकारी, हिन्दकी आदि का आर्य भाषा तथा संस्कृत से कोई सम्बन्ध नहीं है प्रत्युत पंजाबी का मूल-स्रोत तो द्राविड़ी भाषा है जिसके भग्नावशेष मोहनजोदड़ों तथा हड़प्पा में आज भी दृष्टव्य हैं।

इस प्रकार हमारे समक्ष चार अभिमत उपस्थित हुए हैं :

1. पंजाबी का उद्गम पैशाची प्राकृत से है।
2. पंजाबी का उद्गम-स्रोत शौरसेनी प्राकृत है।
3. पंजाबी कैकेय प्राकृत से विकसित भाषा है।
4. पंजाबी का मूल द्रविड़ भाषा है।

अब हम इन में से प्रत्येक अभिमता की समीक्षा करेंगे। जार्ज ग्रियर्सन ने पंजाबी को लहंदी तथा पूर्वी पंजाबी दो पृथक भाषाओं में बांटने का जो उपक्रम किया है उसके प्रति भारतीय भाषाविदों की एक तीक्ष्ण प्रतिक्रिया उजागर हुई है। पंजाबी के भाषाविद् प्रिंसिपल तेजा सिंह, डा. मोहन सिंह दीवाना, डा. भाई जोधसिंह ने ग्रियर्सन के इस सिद्धांत का सशक्त शब्दों में खंडन किया है और इस तथ्य पर बल दिया है कि पाकिस्तान की पश्चिमी तथा पूर्वी पंजाबी दोनों पृथक भाषाएं नहीं हैं वरन् वे एक ही भाषा की दो उपशाखाएं हैं। इस दिशा में उन्होंने ठोस तर्क उपस्थित किए हैं। एक तो यह कि विभक्त पंजाब के दोनों क्षेत्रों के लोग एक दूसरे की बातचीत को अनायास ही समझ पाते हैं। और दूसरा यह कि पंजाबी का समग्र प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य पंजाबी भाषा के उसी रूप में रचा और लिया गया है जिसे मुलतानी या लहंदी कहा गया है। पंजाबी तथा हिंदी के लब्धप्रतिष्ठित विद्वान डा. हरदेव बाहरी ने अपने एक शोधपत्र 'पंजाबी ते लहंदी' में भाषाई तथ्यों को प्रस्तुत कर यही निष्कर्ष निकाला है कि पंजाबी तथा लहंदी एक ही भाषा की उपभाषाएं हैं। इस विवेचन से डा. ग्रियर्सन की यह स्थापना स्वतः खंडित हो जाती है कि पंजाबी और लहंदी या लंहदा पृथक-पृथक भाषायें हैं और दोनों का उद्गम पृथक प्राकृतों से हुआ है।

अब हम पंजाबी तथा पैशाची के जन्य-जनक भाव का अवलोकन करते हैं। पैशाची में कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है ऐसा तो सभी अंगीकार करते हैं परन्तु पैशाची विषयक निर्देशों से हमारा साहित्य भरा पड़ा है। प्राकृत वैयाकरणों ने जिन में वररुचि मार्कण्डेय, लक्ष्मीधर, हेम चन्द्र, त्रिविक्रम प्रमुख हैं, प्राकृत भाषाओं के अन्तर्गत पैशाची की गणना की है। तेरहवीं शती के प्राकृत वैयाकरण त्रिविक्रमदेव ने अपने व्याकरण प्राकृत शब्दानुशासनम् के तृतीय अध्याय में पैशाची तथा चूलीका-पैशाची के भाषा लक्षण सूत्रबद्ध किये हैं। द्वितीय पद्य के पैंसठवें सूत्र में कहा है कि चूलिका पैशाची में संस्कृत के/ग, ज, ड, द, ब, तथा घ, झ, ढ, ध, भ,/ध्वनि वर्ण क्रमशः/क, च, ट, त, प/ और ख, छ, ठ, थ, फ/वर्णों में परिणत हो जाते हैं। इसी प्रकार ट-वर्ग का त-वर्ग हो जाता है। पैशाची के इन विशिष्ट लक्षणों की जब हम पंजाबी के सन्दर्भ में तुलना करते हैं तो पंजाबी के वर्ण समूह की प्रवृत्ति पैशाची से सर्वदा विपरीत मिलती है। संस्कृत शब्द नगर का पैशाची में नकर, मदन का मतन, बालक का पालक प्रतिमा का पडिमा बन जाता है जहां/ग/ध्वनि /क/ ध्वनि में परिवर्तित हुई है। परन्तु पंजाबी में पैशाची के विपरीत बहुधा/क/का/ग होता है। अर्थात् संस्कृत व्युत्पन्न शब्दों की क-ध्वनि के पंजाबी में ग- ध्वनि में बदल दिया जाता है या संस्कृत शब्द भक्ति को पंजाबी में 'भगत' तथा 'युक्ति'को 'जुगती' बना दिया जाता है। यही प्रवृत्ति अन्य वर्णों के विपर्यय में भी प्राप्तव्य है। पैशाची के अन्य भाषा लक्षणों का पंजाबी की ध्वनि प्रकृति से सर्वथा वैषम्य दीखता है। अतः ग्रियर्सन का यह सिद्धान्त तथ्यों के प्रकाश में स्वीकार्य नहीं बन पड़ता कि पंजाबी का उद्गम पैशाची भाषा से हुआ है। यह संभव है कि भौगोलिक दृष्टि से पैशाची पंजाबी प्राकृत की प्रतिवेशिनी भाषा रही हो जिसका यत्किंचित् प्रभाव पंजाबी पर भी पड़ता रहा होगा।

अब हम दूसरे अभिमत की समीक्षा करते हैं जिसके अनुसार पंजाबी का उद्गम शौरसेनी में हुआ है। शौरसेनी आर्यावर्त के मध्यदेश की प्राकृत भाषा थी जिसे शूरसेन का नाम दिया जाता था। मथुरा और उसके आस-पास के ब्रज प्रदेश को शूरसेन कहते हैं। क्षेत्र वाचक शब्द शूरसेन से ही भाषा वाचक शब्द शौरसेनी की व्युत्पत्ति हुई है। शौरसेनी से ही आज की राष्ट्रभाषा खड़ी बोली का विकास हुआ है जिसे संविधान में हिन्दी कहा गया है भौगोलिक दृष्टि से देखें तो प्रत्यक्षतः शौरसेनी का क्षेत्र पंजाब की सीमा से बिल्कुल सटा हुआ है। इससे शौरसेनी प्राकृत पंजाबी की पड़ोसी भाषा बन पड़ती है। पड़ोसी भाषा होने के नाते शौरसेनी और उससे विकसित आधुनिक भाषाओं का पंजाबी पर गहरा प्रभाव डालते रहना एक वास्तविकता है परन्तु शौरसेनी का पंजाबी भाषा का मूल स्रोत होना संदिग्ध है।

जब हम शौरसेनी और पंजाबी की भाषात्मक तुलना करते हैं तो निस्सन्देह शौरसेनी के कतिपय भाषा-तत्व पंजाबी में पाये जाते हैं जैसे कि अनुमेय है। परंतु पंजाबी में कुछेक ऐसे मूलभूत भाषा तत्व हैं जो न तो शौरसेनी में तथा न ही शौरसेनी-प्रसूत हिन्दी व खड़ी बोली प्रभृति आधुनिक भाषाओं में संप्राप्त होते हैं। उदाहरणतया व्याकरण के कर्मणि वाक्य में निष्ठान्त भूतकालिक कृदन्त पंजाबी रूप दित्ता, कीता, सुत्ता, पीता, आदि प्रचलित हैं परन्तु शौरसेनी प्रसूत हिन्दी भाषा में इनके प्रतिरूप क्रमशः दिया, किया, सोया, पीया ही हैं। यहां यह ध्यातव्य है कि पंजाबी की इस शब्द-श्रेणी में संस्कृत का त-अन्तप्रत्यय सुरक्षित है। संस्कृत में ये पद/दतः कृत, सुप्तः पातः/हैं जहा प्रत्यय पंजाबी के साथ विचित्र साम्य दर्शाता है। परन्तु संस्कृत का यह त-प्रत्यय हिन्दी प्रतिरूपों में लुप्त है, जो शौरसेनी प्राकृत की प्रत्यक्ष विकसित भाषा है। यदि पंजाबी का उद्गम शौरसेनी से होता तो त- प्रत्यय का लोप होना चाहिए था परन्तु ऐसा नहीं है। अतः यह सिद्धांत भी शंकास्पद है कि पंजाबी का उद्गम शौरसेनी से हुआ है।

हमारी इस शंका को डा. धीरेन्द्र वर्मा ने उचित ठहराया है। डा. धीरेन्द्र वर्मा ने अपनी भाषा वैज्ञानिक पुस्तक 'हिन्दी भाषा का इतिहास' में इस धारणा के प्रति शंका उठाते हुये लिखा है कि शौरसेनी प्राकृत तथा अपभ्रंश से आधुनिक पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, तथा पश्चिमी हिन्दी निकली हो यह समझ में नहीं आता। डा. वर्मा का यह वाक्यांश "यह समझ नहीं आता" कितना मार्मिक और साभिप्राय है। मात्र एक शौरसेनी प्राकृत से पंजाबी और गुजराती जैसी सुदूरवर्ती आधुनिक भाषाएं विकसित हुई हों। यह कदाचित् संभव नहीं है। क्या अष्टाध्यायी के देश पंजाब की अपनी कोई प्राकृत न थी? अवश्यमेव पंजाब की अपनी कोई प्राकृत प्रचलित रही होगी। यह कल्पना करना सर्वथा सुसंगत है। डा. वर्मा ने अपने आक्षेप के साथ-साथ इस समस्या का समाधान भी प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है कि लहंदा के लिए एक कैकेय अपभ्रंश की कल्पना की जा सकती है यह व्राचड़ अपभ्रंश से मिलती जुलती रही होगी। पंजाबी का संबंध भी कैकेय अपभ्रंश से ही माना जाता है। किन्तु बाद को इस पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव बहुत पड़ा है।

डा. वर्मा के इस उद्धरण से हमें पंजाबी की जननी प्राकृत का स्पष्ट और सारगर्भित इंगित मिलता है। इसके अनुसार पंजाबी का उद्गम कैकय अथवा कैकेय प्राकृत से हुआ है। इसकी परिपुष्टि डा. भोलानाथ तिवारी, चाँदनी चन्द, श्री श्याम सुन्दर प्रभृति विद्वानों ने की है। डा. तिवारी ने लिखा है कि कैकेय अपभ्रंश से

पश्चिमी पंजाब की भाषा का विकास हुआ है । ककेय से पूर्वी पंजाबी की भी उत्पत्ति हुई है । टक्की और मद्र भी इसी कैकेय की शाखाएं थी । ककय एक प्राकृत थी और अपभ्रंश भी थी ।

कैकेय प्राकृत पंजाब के उस भाग की प्राकृत थी जिसे आजकल पाकिस्तान पंजाब में मुल्तान क्षेत्र कहा जाता है । इस कैकेय प्रदेश की भाषा कैकेय थी । इसके संकेत हमें प्राकृत व्याकरणों में भली-भांति मिलते हैं । प्राकृत चन्द्रिका में अपभ्रंश भाषा के जिन 27 भेदों का निर्वचन है, कैकेय अपभ्रंश की भी उनमें गणना की गई है । मार्कण्डेय के 'प्राकृत सर्वस्व' में कैकेय का निर्देश है । मार्कण्डेय ने अपभ्रंशों के विशिष्ट लक्षण सूत्रबद्ध किये हैं । उसने कैकेय के विषय में लिखा है "स्वीप्सा कैकेयी" अर्थात् ध्वनियों की पुनरावृति कैकेय भाषा है । इन वर्णनों से अवगत होता है कि कैकेय प्राकृत एक महत्वपूर्ण प्राकृत थी । इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर भी पहुंचते हैं कि कैकेय प्राकृत अथवा अपभ्रंश पश्चिमी पंजाब के कैकेय प्रदेश की प्राचीन भाषा थी जिससे आधुनिक पंजाबी का विकास हुआ है ।

इस विस्तृत विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि पंजाबी भाषा का उद्गम पंजाबी की प्राचीन ग्राम प्राकृत कैकेय से हुआ है । कैकेय अथवा कैकेयी वैदिक संस्कृत से सम्बद्ध भाषा है जो पालि भाषा के द्वारा विकसित हुई होगी । पंजाब की कैकेयी प्राकृत के विषय में जैसे-जैसे और अनुसंधान होगा, वैसे-वैसे भाषा के इस इतिहास पर और अधिक प्रकाश पड़ता जाएगा । पंजाबी के उद्गम की इस स्थापना को और बल मिलेगा, ऐसी संभावना की जा सकती है ।

संस्कृत और आर्य भाषाएं : उद्भव और विकास

–डा० बलदेव सिंह

भाषावैज्ञानिकों के अनुसार विश्व की भाषाओं में संस्कृत तथा भारतीय आर्य भाषाओं का सम्बन्ध यूरेशिया खण्ड के भारतीय परिवार की अत्यन्त प्राचीन तथा प्रसिद्ध शाखा आर्यशाखा से है जिसे भारत-ईरानी शाखा भी कहा जाता है। उपलब्ध साहित्यिक प्रमाणों के अनुसार इस शाखा के प्राचीनतम रूप अवेस्ता तथा ऋग्वेदी वैदिक संस्कृत हैं। भारतीय परिवार की मूल भाषा का स्वरूप क्या था, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। तुलनात्मक भाषा विज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर इस मूल रूप के सम्बन्ध में मात्र कल्पना ही की जा सकती है। इस मूल रूप से विकसित जिन दस शाखाओं का उल्लेख भाषा वैज्ञानिकों द्वारा किया गया है उनमें आर्य शाखा को भारत-ईरानी शाखा का नाम भौगोलिक दृष्टि से दिया गया है।

प्राप्त प्रमाणों के अनुसार ईसा से कम से कम एक हजार वर्ष पूर्व ईरान में अवेस्ता नामक धर्मग्रन्थ प्रचलित था। ग्रन्थ के नाम पर इस ग्रन्थ की भाषा को अवेस्ता या अवेस्ती कहा जाता है। अवेस्ता की भाषा ऋग्वेद की भाषा से पर्याप्त मिलती-जुलती है। यदि ध्वनि सम्बन्धी कुछ परिवर्तनों की उपेक्षा कर दें तो अवेस्ती और वैदिकी में अधिक भेद नहीं है। उदाहरण के लिए 'तम् अवमन्तं यजतम्। सूरम् धामसु सविष्ठम्। मित्रम् यजे होत्राभ्य.' का अवेस्ता रूप 'तम् अवमन्तम् यजतम्। सूरम् दामोहु सविश्तम्। मित्रम् यजई जओथ्रब्यों' है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि वैदिकी की 'स' ध्वनि अवेस्ता में 'ह' में परिवर्तित हो जाती है तथा घ, भ जैसी महाप्राण ध्वनियाँ द, ब के रूप में अल्पप्राण हो जाती है। कुछ परिस्थितियों में संस्कृत की अल्पप्राण त जैसी ध्वनि अवेस्ता में थ, फ के रूप में महाप्राण हो जाती हैं। संस्कृत का सप्त अवेस्ता में हफ्त बोला जाता है। अवेस्ता की पश्चिमी शाखा का परवर्ती विकसित रूप प्राचीन फारसी से पहलवी तथा पहलवी से आधुनिक फारसी के रूप में ईरान में बोला जाता है। अवस्ता की पूर्वी शाखा विकसित होती हुई इस समय पश्तो, बलोची तथा पामीरी के रूप में अफगानिस्तान तथा बलोचिस्तान में बोली जाती है।

आकाशवाणी शिमला से 10अगस्त, 1979 को प्रसारित।

ऋग्वेद की भाषा वेद, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों की भाषा के रूप में क्रमशः परिवर्तित या विकसित होती रही। भाषा के इस रूप को वैदिकी अथवा वैदिक संस्कृत कहते हैं। संस्कृत का परवर्ती रूप लौकिक संस्कृत कहलाता है। प्रसिद्ध वैयाकरण तथा भाषा वैज्ञानिक पाणिनि ने इस परवर्ती रूप को भाषा कहा है। पाणिनि का काल ईसा से कम से कम 600 वर्ष पूर्व माना जाता है। उनके समय में संस्कृत भाषा न केवल वैदिकी तथा लौकिकी के रूप में विभक्त हो चुकी थी अपितु लौकिकी के भी तीन रूप हो गये थे। वास्तविकता तो यह है कि ऋग्वेद से लेकर उपनिषदों की जिस भाषा को वैदिकी या वैदिक संस्कृत कहते है, भाषा की दृष्टि से उसके भी अनेक रूप हैं। संहिता काल की भाषा में न केवल ऋग्वेद तथा अथर्ववेद की भाषा में ही अन्तर है, स्वयं ऋग्वेद के प्रारम्भिक तथा अन्तिम सूक्तों की भाषा में पर्याप्त अन्तर है। संहिताओं के विभिन्न प्रतिशाख्यों में भाषा के उच्चारण सम्बन्धी भेदों की चर्चा की गई है। परन्तु वैदिक भाषा का यह अन्तर ध्वनि स्तर का अधिक है, व्याकरण स्तर का कम।

पाणिनि ने लौकिक संस्कृत के जिन भेदों की ओर संकेत किया है उन्हें भूगोल की दृष्टि से पूर्वी, मध्यदेशी तथा उत्तरी कह सकते हैं। पाणिनि द्वारा किये गये इन भेदों के उल्लेख से यह बात सहज ही सिद्ध हो जाती है कि उनके समय में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। इसीलिए उन्होंने इस रूप को भाषा कहा था। परन्तु भाषा का प्रवाह नदी के प्रवाह के समान निरन्तर चलता रहता है। काल तथा स्थान के प्रभाव से भाषा का मूल रूप अनेक रूपों में विभक्त हो जाता है। इन क्षेत्रीय रूपों में से कोई एक रूप कुछ विशेष कारणों से परस्पर सम्पर्क का माध्यम होने के कारण संघीय रूप बन जाता है। परन्तु भाषा के परिवर्तन या विकास की गति निरन्तर चलती रहती है। संघीय रूप से क्षेत्रीय रूप तथा क्षेत्रीय रूपों में से किसी एक रूप का संघीय रूप में विकास की परम्परा का चक्र कभी बन्द नहीं होता।

आर्य भाषाओं के विकास में वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत का काल आदि-काल कहलाता है जिसे ईस्वी पूर्व 500 तक माना जाता है। ईस्वी पूर्व 500 से लेकर ईसा की दसवीं शताब्दी तक का काल मध्यकाल कहा जाता है। इस बात के निश्चित प्रमाण मिलते हैं कि ईस्वी पूर्व 500 के आसपास संस्कृत जनभाषा न होकर केवल पढ़े-लिखे लोगों की भाषा के रूप में सम्पर्क भाषा तथा साहित्यिक भाषा बन गई थी। महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेश संस्कृत में न देकर उस युग की ऐसी भाषा में दिये थे जिसे जनसाधारण बोलता था। बुद्ध के समय में प्रचलित इस लोक भाषा का विकास ऐसी भाषा से माना जाता है जिस पर वैदिक तथा लौकिक इन दोनों संस्कृतों का प्रभाव

था । भाषा के इस रूप को भाषा वैज्ञानिकों ने प्रथम प्राकृत अथवा पालि नाम दिया है। पालि की कुछ विशेषताएं ऐसी हैं जो लौकिक संस्कृत में नहीं हैं परन्तु वैदिक संस्कृत में है। पालि में अकारान्त पुल्लिंग देव आदि शब्दों का तृतीय बहुवचन का रूप देवेहि वैदिक रूप देवेभि: का विकास है न कि संस्कृत रूप देवै: का। इसी प्रकार वैदिकी की 'ळ' ध्वनि भी पालि में सुरक्षित है जबकि संस्कृत में इसका प्रयोग नहीं है।

अशोक के अभिलेखों में भी भाषा से यह सिद्ध होता है कि उस काल में पालि के पश्चिमी, उत्तर-पश्चिमी, मध्यदेशी, पूर्वी तथा दक्षिण रूप प्रचलित थे। प्रचार के लिए महात्मा बुद्ध के उपदेशों को उस काल की विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में अनूदित कराया गया था। उन्हीं अनुवादों से उक्त रूपों की पुष्टि होती है। भाषा का यह रूप ईसा के प्रादुर्भाव तक प्रचलित रहा जिसे प्रथम प्राकृत काल अथवा पालि काल कहा जाता है।

प्राकृत भाषाओं का दूसरा काल मध्य प्राकृत काल या केवल प्राकृतकाल कहलाता है। यह युग ईस्वी शती के प्रारम्भ से ईसा की पांचवीं शती तक माना जाता है। यद्यपि क्षेत्रीय बोलियों के रूप में पालिकाल में ही पालि के अनेक रूप प्रचलित हो गये थे परन्तु साहित्यिक भाषाओं के रूप में प्राकृत के भेदों की प्रतिष्ठा इसी युग की देन है। भारत के पश्चिमोत्तर क्षेत्र में उस समय पैशाची का प्रचलन था जिस का विकास भारत-ईरानी की एक उपशाखा दरद से माना जाता है। गुणाढ्य की बुड्ड कहा अर्थात् बृहत्कथा मूल रूप में पैशाची में ही लिखी गई थी। कथा-साहित्य में इस कृति का स्थान सर्वोपरि माना जाता था। यह ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है।

इस युग की प्रमुख भाषा शौरसेनी प्राकृत थी। यद्यपि शूरसेन देश के नाम पर इसे शौरसेनी कहा जाता था परन्तु यह उस समय के सम्पूर्ण मध्यदेश में बोली जाती थी। साहित्यिक भाषा के रूप में इसकी प्रतिष्ठा इस बात से सहज ही सिद्ध हो जाती है कि संस्कृत के नाटक साहित्य में उत्तम श्रेणी के स्त्रीपात्र तथा मध्यम श्रेणी के पुरुष पात्र इसी भाषा का प्रयोग करते हैं। वास्तव में परिमाण की दृष्टि से संस्कृत के नाटकों की प्रमुख भाषा शौरसेनी ही है। अम्बाला से लेकर इलाहाबाद तक तथा कच्छ से लेकर नेपाल तक सारा क्षेत्र शौरसेनी से प्रभावित था। शौरसेनी के क्षेत्र के पूर्व में अयोध्या से लेकर पटना तक अर्धमागधी प्राकृत बोली जाती थी तथा उससे भी पूर्वी क्षेत्र असम, बंगाल तथा उड़ीसा में मागधी का प्रभाव था। दक्षिण में आर्यभाषाओं का विस्तार केवल आधुनिक महाराष्ट्र तक ही था जहां उस समय महाराष्ट्री प्राकृत

बोली जाती थी। महाराष्ट्री प्राकृत को उस युग में मुख्य काव्य की भाषा होने का गौरव भी प्राप्त था। संस्कृत के नाटकों में पात्रों की भाषा महाराष्ट्री ही है।

मध्यकाल की प्राकृतों का पारस्परिक भेद ध्वनि-स्तर अथवा उच्चारण-स्तर पर ही अधिक है। व्याकरण अर्थात् पदनिर्मिति या वाक्य-निर्मिति के स्तर पर यह भेद एकदम नगण्य है। शौरसेनी में तालव्य 'श' का अभाव है तो मागधी में दन्त्य 'स' नही है। मूर्धन्य 'ष' का प्रयोग किसी भी प्राकृत में नही है। इसक उच्चारण 'ख' में परिवर्तित हो गया है। पैशाची में, जिसे भूतभाषा भी कहा जाता है 'र' ध्वनि के स्थान पर कभी-कभी 'ल' भी बोला जाता है। परन्तु संस्कृत की तुलना मे प्राकृत भाषाओं में व्याकरण के स्तर पर पर्याप्त अन्तर आ गया है। संस्कृत में संज्ञापद तथा क्रियापदों का प्रयोग एक वचन, द्विवचन तथा बहुवचन में होता था परन्तु प्राकृतों में द्विवचन का प्रयोग नही है। संस्कृत का आत्मनेपद तथा परस्मैपद का भेद भी प्राकृतों में समाप्तप्राय है। व्यन्जनान्त शब्द स्वरान्त हो गए हैं तथा स्वरान्त शब्दों की रूप-रचना आकारान्त शब्दों के समान हो गई है। काल तथा प्रकार की दृष्टि से संस्कृत के क्रियारूप वैदिकी में ग्यारह तथा लौकिकी में दस प्रकार के होते थे। परन्तु प्राकृतों में से भेद पांच ही रह गए हैं। सबसे अधिक परिवर्तन भूतकाल के रूपों में हुआ है। प्राकृतों में तिङ् प्रत्ययान्त भूतकालिक रूपों की अपेक्षा कृत् प्रत्यायान्त रूपो का प्रयोग अधिक है। यह प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती रही है तथा उत्तरवर्ती आर्य भाषाएं इस परिवर्तन से अत्यधिक प्रभावित हुई हैं। हिन्दी के क्रियापद कृदन्तो से ही विकसित है अतः उनमे स्त्रीलिंग तथा पुल्लिग का भेद आ गया है।

प्राकृत भाषाओं का अन्तिम तथा तृतीय युग ईसा की पाचवी शती से लेकर दसवीं शती तक माना जाता है। इस काल की आर्यभाषाओं को तृतीय प्राकृत भी कहते हैं। परन्तु इनका बहुप्रचलित नाम अपभ्रंश है। अपभ्रंश शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग पातंजलि के महाभाष्य में मिलता है। परन्तु वहां पर इसका प्रयोग किसी भाषा विशेष के लिए नही किया गया है अपितु उन सभी भ्रष्ट प्रयोगों के लिए है जो संस्कृत से विकसित हो गए थे। संस्कृत 'गो' शब्द के स्थान पर प्रयुक्त गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि शब्दों को उन्होने अपभ्रंश कहा है। भारत के नाट्य शास्त्र में भी इसी अर्थ में विभ्रंश या विभ्रष्ट शब्दो का प्रयोग मिलता है। परन्तु भाषा के अर्थ में अपभ्रंश शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग वलभी के राजा धरसेन द्वितीय के शिलालेख में मिलता है। इस शिलालेख के अनुसार धरसेन के पिता गुहसेन-संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश–इन तीन भाषाओं में प्रबन्ध काव्य लिखने में निपुण

थे। इस शिलालेख का समय छठी शती का मध्य भाग है। उस समय अपभ्रंश भाषा साहित्यिक भाषा के रूप में गौरव प्राप्त कर चुकी थी। अतः जन भाषा के रूप में उसका प्रयोग ईसा की पाचवीं शताब्दी के आसपास प्रारम्भ हो चुका था। साहित्यिक भाषा के रूप में अपभ्रंश का उल्लेख भामह ने भी किया है तथा दण्डी ने भी। परन्तु इन उल्लेखों में अपभ्रंश के भेदों की चर्चा नहीं है। सर्वप्रथम नवम शताब्दी में रुद्रट ने देश भेद से अपभ्रंश को भूरि भेद अर्थात् अनेक भेदों वाला कहा है। रुद्रट के काव्यालंकार पर टीका करते हुए ग्यारहवीं शताब्दी में नमिसाधु ने लिखा है कि कुछ आचार्य अपभ्रंश के उपनागर, आभीर तथा ग्राम्य नामक तीन प्रकार के भेद मानते हैं जो उचित नहीं हैं। क्योंकि देश-भेद से अपभ्रंश के अनेक प्रकार थे। सत्रहवीं शती के आचार्य मार्कण्डेय ने भी तीन प्रकार की अपभ्रंशों के मानने की भूल की है। उन्होंने इनके नाम नागर, उपनागर तथा व्राचड दिये हैं। नागर गुजरात में, व्राचड सिन्ध में तथा उपनागर इन दोनों के मध्य में बोली जाती थी। मार्कण्डेय के विवेचन से स्पष्ट है कि वह केवल पश्चिमी भाग के अपभ्रंशों की ही चर्चा कर रहे हैं। भारत के शेष भागों के अपभ्रंश भेदों का उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया है। विभाषा नामक भेद के अन्तर्गत उन्होंने शाकारी, शावरी, चाण्डाली, आभीरी तथा ढक्की का उल्लेख किया है जो जाति विशेष की भाषाएं हैं देश विशेष की नहीं। देश विशेष की भाषाओं के रूप में उन्होंने महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, आवन्ती तथा प्राच्या का उल्लेख किया है।

परन्तु वास्तविकता यह है कि अपभ्रंशों के उतने भेद अवश्य थे जितने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के हैं। ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास अपभ्रंशों से आधुनिक भाषाओं का विकास प्रारम्भ हो गया था। पश्चिमोत्तर का अपभ्रंशों से लंहदा, सिन्धी तथा पंजाबी का विकास हुआ। पंजाबी पर शौरसेनी अपभ्रंश का भी प्रभाव है। कश्मीरी पैशाची अपभ्रंश से विकसित है। हिमाचल से लेकर नेपाल तक की पर्वतीय भाषाएं खश अपभ्रंश से विकसित हैं परन्तु ये भी शौरसेनी से प्रभावित हैं। गुजरात तथा राजस्थान सहित पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र की सभी भाषाएं शौरसेनी अपभ्रंश के विभिन्न रूपों से विकसित हुई है। इनमें गुजरात की गुजराती, राजस्थान की मेवाती, मारवाड़ी, मालवी, जयपुरी तथा मेवाड़ी, पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र की बांगड़, खड़ी बोली, व्रज, बुन्देली तथा कन्नौजी सम्मिलित हैं। अर्धमागधी अपभ्रंश से पूर्वी हिन्दी क्षेत्र की अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी का विकास हुआ है। मागधी के विभिन्न अपभ्रंशों से भोजपुरी, मैथिली, मगही बंगला, असमी तथा उड़िया विकसित हुई हैं। महाराष्ट्री अपभ्रंश के भेदों से महाराष्ट्र की वर्तमान मराठी तथा उसके अवान्तर भेदों का विकास हुआ है।

संस्कृत

यद्यपि वंश वृक्ष की दृष्टि से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं संस्कृत की पांचवी पीढ़ी में आती हैं परन्तु आज भी वे संस्कृत के प्रभाव से मुक्त नहीं है। आर्यभाषा क्षेत्र की प्रान्तीय भाषाओं का शब्दकोष संस्कृत से समृद्ध किया जा रहा है। प्राकृत तथा अपभ्रंश काल के तद्भव शब्द पुनः तत्सम रूप में प्रयुक्त हो रहे है। हिन्दी, गुजराती मराठी तथा बंगला आदि के साहित्यिक रूपों पर संस्कृत की गहरी छाप है। इस दृष्टि से आर्येतर द्रविड़ परिवार की भाषाएं तेलुगु, तमिल, कन्नड तथा मलयालम भी संस्कृत से प्रभावित रही हैं। यदि यह स्वस्थ परम्परा चलती रही तो भारत की सम्पर्क भाषा का रूप संस्कृतनिष्ठ होगा जिसकी अधिकांश शब्दराशि तो संस्कृत की होगी तथा व्याकरण हिन्दी का होगा। उस समय संस्कृत ही उत्तर-दक्षिण को एक सूत्र में पिरोने का कार्य करेगी।

अंग्रेजी भाषा का उद्‌भव और विकास

—डा० मन्त्रिणी प्रसाद

ससार में 3000 के लगभग भाषाएं हैं। वंश वृक्ष के आधार पर इन्हें कई वर्गों में बांटा जाता है। आयरलैण्ड से लेकर भारत तक फैले भू-भाग में 100 भाषाओं का एक वर्ग पाया जाता है इसे भाषाशास्त्री भारत-यूरोपीय भाषा वर्ग कहते हैं। अंग्रेजी इसी यूरोपीय परिवार की एक भाषा है।

एक समय था जब इंगलिस्तान अथवा इंग्लैंड यूरोप से जुड़ा हुआ था। यह पचास हजार साल पहले की बात है। यूरोप में पाषाणयुग की सभ्यता का उन्मेष हुआ था। उस सभ्यता में पली एक आदिम जाति का सबसे पहले अंग्रेजों के इस देश में प्रवेश हुआ। ये लोग कद में छोटे, रंग के पक्के और दीर्घ कपाल वाले हुआ करते थे। इनके वंशज बाद में पिक्ट कहलाये जिन्हें कालान्तर में आने वाली जातियों ने स्काट-लैंड के उत्तर में धकेल दिया।

पाषाणयुग के अन्त में धातुकाल आता है। मानव पत्थरों से बने औजारों की जगह धातु से निर्मित उपकरणों का प्रयोग प्रारम्भ करता है। यूरोप में यह स्थिति 2000 ईसवी पूर्व में आ चुकी थी।

इन्हीं दिनों यूरोपीय भाषा भाषी जातियां अपने निवास स्थान को छोड़कर यूरोप, पश्चिमी एशिया, ईरान तथा भारत की ओर चल पड़ी थी। यूरोप की ओर बढ़ने वाली जातियों में कैल्ट, स्लाव, ट्यूटानिक, ग्रीक तथा रोमन प्रमुख थी। इनमें कैल्ट लोगों ने आल्प्स पर्वत के पास के प्रदेशों फ्रांस, स्पेन तथा पुर्तगाल पर अपना अधिकार जमा लिया। यूरोप के उत्तरी भागों में अर्थात् नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, हालैंड तथा जर्मनी में ट्यूटानिक लोग आ बसे। स्लाव यूरोप के पूर्व में रह गए, ग्रीक तथा रोमन यूनान और इटली में जा घुसे।

कैल्ट लोग अपने समय के बड़े युद्धवीर रहे हैं। दो सौ वर्षों के भीतर इन्होंने यूरोप का काफी भाग हस्तगत कर लिया। उत्तर में ये इंग्लैण्ड] और आयरलैण्ड में फैल गए और पूर्व में यूनान की उत्तरी सीमा तक पहुंच गए।

अपने पड़ोसी ट्यूटानिक लोगों से सभ्यता की कोटि में ये काफी आगे थे। परन्तु ग्रीक और रोमन लोग फिर भी इन्हें बर्बर ही मानते रहे। कैल्ट लोगों की भाषा कैल्टिक कहलाई जिसके दो रूप मिलते हैं, एक इंग्लैण्ड और आयरलैण्ड में बोले जाने वाला तथा दूसरा यूरोप में बोले जाने वाला। कैल्टिक भाषा की धरोहर बाद में प्राचीन आयरिश, वैल्श तथा ब्रितानी भाषाओं ने प्राप्त की।

ईसा से पहली शताब्दी में रोमन साम्राज्य शक्ति ग्रहण करने लगा। धीरे-धीरे रोमन सेनाओं ने यूरोप से कैल्ट लोगों के प्रभुत्व को समाप्त कर डाला। ईसा पूर्व सन् 55 में जूलियस सीज़र के नेतृत्व में रोमन सेनाएं इंग्लैण्ड में भी घुस आई और एक सौ वर्ष बाद, रोमन सेनापति एग्रीकोला ने समूचे इंग्लैंड तथा आयरलैंड पर अपना कब्जा कर लिया।

यूरोप में चार सौ वर्षों तक रोमन लोगों के शासन की अखंडता बनी रही। इस दौरान फ्रांस, पुर्तगाल तथा स्पेन रोमन भाषा-भाषी बन गए परन्तु इंग्लैंड और आयरलैंड में जन-साधारण कैल्टिक ही बोलते रहे। ऐसा लगता है कि रोमन भाषा संस्कृति की छाप इंग्लैंड और आयरलैण्ड पर उतनी गहरी नहीं पड़ी जितनी पश्चिमी यूरोप पर। यही कारण है कि इंग्लैंड के पश्चिम में आज भी वैल्श भाषा अपने कैल्टिक रूप को प्रतिपादित करती आ रही है।

पांचवी शताब्दी में रोमन साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया। साम्राज्य के उत्तर में बसने वाली ट्यूटानिक जातियां जिनमें फ्रांस, ऐंगल, सैक्सन, जूट, वैण्डल, ओस्ट्रोगाथ तथा विसीगाथ उल्लेखनीय हैं—यूरोप में अपनी विजय पताका फहराने के लिये आतुर होने लगी। ये लोग आज के जर्मनों के पूर्वज थे। इनके भयंकर आक्रमण के सामने रोमन साम्राज्य की शक्ति टिक न सकी। परिणामस्वरूप आस्ट्रोगाथ इटली में घुस आए, फाक उत्तरी फ्रांस में जा डटे, वैंडल और विसीगाथ स्पेन तथा उत्तरी अफ्रीका पर छा गए। ऐंगल, सैक्शन और जूट इंग्लैण्ड में प्रवेश की तयारी करने लगे।

ऐंगल तथा सैक्शन आक्रमणकारियों ने कैल्ट लोगों को पश्चिम की ओर खदेड़ दिया तथा रोमन नगरों को ध्वस्त कर डाला। इंग्लैण्ड का पहला नामकरण 'सैक्सोनिया' अर्थात सैक्शन लोगों का देश हुआ। उसके उपरान्त 'आंगलिया' नाम व्यवहृत होने लगा तथा दसवीं शताब्दी के आसपास इंग्लैण्ड नाम रूढ़ हो गया।

इन ट्यूटानिक जातियों की भाषाएं 'जर्मन भाषा परिवार' अर्थात की शाखाएं थी। इनके तीन भेद किये जाते हैं—पूर्वी, उत्तरी तथा पश्चिमी।

शाखा के अन्तर्गत जर्मन, फ्रिजियन, डच और केल्टिक भाषाओं की गिनती होती है अंग्रेजी इस पश्चिमी शाखा की भाषा थी तथा फ्रिजियन के सबसे अधिक निकट थी।

सन् 450 से 1150 तक अंग्रेजी भाषा का प्राचीन रूप बना रहा। 1150 से 1500 तक इसके विकास का मध्यकाल आता है। 1500 के उपरांत यह आधुनिक युग में प्रवेश कर जाती है।

प्रारम्भ में अंग्रेजी कोई परिनिष्ठित भाषा नहीं थी। इसकी चार बोलियां थीः उत्तर में बोले जाने वाली नार्थम्ब्रियन, मध्य देश में बोले जाने वाली मर्सियन, दक्षिण में बोले जाने वाली सैक्सन तथा दक्षिण पूर्व में बोले जाने वाली केंटिश।

सैक्शन बोली में पुरानी अंग्रेजी का साहित्य सुरक्षित है। दक्षिणी क्षेत्र में एक सुदृढ़ राज्य की नींव भी पड़ी जिसके प्रभाव के फलस्वरूप सैक्शन को साहित्यिक भाषा का दर्जा मिल गया। यदि देश में आगे चलकर राजनैतिक उथल-पुथल न होती तो संभव था कि यही बोली पूरे देश की परिनिष्ठित भाषा (Standard Language) बन जाती। पुरानी अंग्रेजी के अध्ययन के लिये इसी बोली को आधार माना जाता है। जर्मानिक के पूर्वरूप की जब हम पड़ताल करते हैं तो पता चलता है कि व्याकरण और मूल शब्दावली की दृष्टि से यह लैटिन, ग्रीक, केल्टिक तथा स्लाव भाषाओं में काफी समानता रखती है और अधिक खोज करने पर यह समानता संस्कृत में भी प्रतिबिम्बित होने लगती है। इधर संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन भाषा की ध्वनियों में किसी सीमा तक एकरूपता मिलती है जो जर्मानिक में नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि पांचवी सदी ईसवी पूर्व जर्मानिक की ध्वनियों में एक अन्तर आया था।

लैटिन, ग्रीक तथा संस्कृत में पाए जाने वाले स्पर्श व्यंजन उदाहरण के लिए प, त-क, घर्षण स्पर्शी होने के साथ-साथ महाप्राण बन गए अर्थात् फ, थ, और ह में बदल गए। जैसे Latin में शब्द है Pater संस्कृत म पितृ परन्तु अंग्रेजी में (जो एक जर्मानिक भाषा है) Fader; Latin में tres, sans त्रयस् परन्तु अंग्रेजी में three; उसी तरह लैटिन में Centum के स्थान पर अंग्रेजी का शब्द है hundred इस ध्वनि नियम को इसके आविष्कर्ता जेकब ग्रिम के नाम से Grim's Law के रूप में जाना जाता है। इस नियम में एक कमी रह गई थी। अंग्रेजी में Fader के स्थान पर Faper रूप बनना चाहिये था। क्योंकि प, फ, में बदला था और त, थ में। इस अपवाद के पीछे कारण ढूंढने के लिए एक अन्य विद्वान वैर्नर ने

अंग्रेजी

बदल किया तथा एक और नियम बना जिसे वैर्नर लॉ कहा जाने लगा। इस नियम के अनुसार यूरोपीय 'त' जर्मानिक में तभी 'थ' में बदलेगा जब कि उससे पहले आने वाले वर्ण पर स्वर अर्थात् बल पड़ता हो। pater या पितृ शब्द में स्वर 'त' के बाद पड़ता है इसलिये 'त' का 'थ' नहीं बन पाया। ये ध्वनि-परिवर्तन पांचवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व हो चुके थे। क्योंकि उस काल से पहले जर्मानिक शब्दों में जो लिखित भाषा में उपलब्ध होते हैं, ये ध्वनि-परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होते। प्राचीन यूरोपीय भाषाएं विभक्ति-प्रधान थीं। मूल भाषा में आठ कारक थे जो संस्कृत में आज भी विद्यमान हैं। बाकी अन्य भाषाओं में स्लाव में छह, लैटिन में पांच, ग्रीक में चार, आधुनिक जर्मन में चार तथा पुरानी अंग्रेजी में पाच कारक मिलते हैं। इन पांचों कारकों की अलग-अलग विभक्तियां थीं। कारक और विभक्ति में अन्तर स्पष्ट करने के लिये उदाहरण लीजिये।

Who did you see?
Whom did you see?

आजकल ये दोनों रूप ग्राह्य हैं। पहले वाक्य में (Who) कर्मकारक में है परन्तु कर्मकारक की विभक्ति लुप्त है दूसरे वाक्य में कर्मकारक विभक्ति सहित है। पुरानी अंग्रेजी अर्थात् सैक्सन में कर्ता, कर्म सम्प्रदान और सम्बन्ध मुख्य रूप से तथा करण कारक इने-गिने रूपों में उपलब्ध था। संज्ञा, सर्वनाम तथा विशेषण के तीनों लिंगों—स्त्रीलिंग, पुल्लिंग, नपुंसक लिंग में रूप मिलते थे और संस्कृत की भांति एकवचन के साथ द्विवचन की झलक भी दिखाई दे जाती थी।

जर्मानिक भाषाओं में आर्टीकल (Article) की विद्यमानता थी। जबकि संस्कृत तथा स्लाव भाषाओं में उसका नितान्त अभाव है। ग्रीक तथा लैटिन में यह विकासशील रहा। Article संज्ञा के सामान्य तथा विशेष अर्थ का बोध अभिव्यक्ति का माध्यम है जैसे a book, the book विशेष अर्थ का बोध definite article से होता है। पुरानी अंग्रेजी में definite article के पाचो कारकों में सविभक्तिक रूप मिलते थे।

वर्तमान जर्मन भाषा तथा पुरानी अंग्रेजी में बड़ी समानता देखने को मिलती है। जर्मन क्रियायें —en प्रत्ययान्त हैं जैसे drinken (to drink), Schlafen (to sleep) पुरानी अंग्रेजी में भी यही स्थिति थी drincan, slaepan। जर्मन भाषा के समान ही क्रिया की तीन अवस्थाओं के रूप उपलब्ध होते हैं जैसे में helfen half और पुरानी अंग्रेजी में helpen, healp।

अंग्रेजी में help के रूप help, helped में मिलते हैं। अर्थात् help क्रिया पुरानी अंग्रेजी में strong verb थी परन्तु बाद में वह weak verb की श्रेणी में आ गई। पुरानी अंग्रेजी में क्रिया की तीसरी अवस्था का द्योतक जर्मन का उपसर्ग ge—प्रचुर मात्रा में मिलता है, जैसे fremmen (to per form)>ge fremed,
lufian (to lore) < ge lufod

प्रारम्भ में पुरानी अंग्रेजी का शब्द भंडार जर्मानिक ही था। विदेशी शब्द इसमें आटे में नमक के बराबर थे। कैल्टिक भाषा से कुछ शब्द अवश्य लिये यथा binn, bratt, broc, कुछ शब्द लैटिन के भी मिले जैसे castro, fontana, portus कैल्टिन के माध्यम से, परन्तु लैटिन शब्दों के आगमन का मार्ग तब प्रशस्त हुआ जब इंग्लैंड ईसाई धर्म में दीक्षित हो गया। यह कार्य 597 में प्रारम्भ हुआ तथा सौ वर्षों के भीतर संपन्न हो गया।

इस 100 वर्ष की अवधि मे स्कण्डेनेवियन शब्दों का भाषा में व्यापक समावेश हुआ। पुरानी अंग्रेजी मे स्क ध्वनि घिस-घिस कर 'श' बन चुकी थी, जैसे (इन शब्दों मे यथा) *Ship, fish*। *नये स्कैण्डेनेवियन शब्दों को ग्रहण करने पर यह* पुन. सुनाई देने लगी जसे Sky, skin, bask, whisk। देश भर में कस्बों के नामो पर स्कैण्डनेवियन छाप से सिद्ध होता ह कि ये लोग यही बस-खप गये। ऐसे नामों की सख्या 1400 स अधिक हैं।

व्याकरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण सर्वनाम रूपों का समावेश, यथा Are they, them, their विशेष उल्लेखनीय हैं।

अधिकार क सभी स्थानो यथा राजदरबार/न्यायालय और चर्च में नारमन लोग और उनके सहयोगी छा गये। ये लोग केवल फ्रेंच और लैटिन जानते थे। स्पष्ट ह फ्रेंच और लैटिन राज्य-भाषाएं बन गई और अंग्रेजी दीन-हीन प्रजा की भाषा बन कर रह गई।

बारहवी शताब्दी में अंग्रेजी की और भी दयनीय स्थिति हो गई तथा साहित्य और शिक्षा के माध्यम मे बहिष्कृत हो गई।

साहित्य की रचना फ्रेंच में होने लगी और धर्म का प्रचार लैटिन में। अंग्रेजी बोल-चाल की भाषा रह गई। इंग्लैंड के नारमन बादशाह फ्रांस में अपनी

जागीर को घर मान कर चलते थे और इंग्लैंड को मात्र उपनिवेश। 1204 में उनकी यह जागीर छिन गई तथा उनकी फ्रांस के बादशाह के साथ ठन गई। अब उन्हें इंगलड और अंग्रेजी के महत्व का बोध होने लगा।

इधर पेरिस की परिनिष्ठत फ्रेंच और इंग्लैंड में बसने वाले नारमन लोगों की फ्रेंच में अन्तर बढ़ता रहा। जिस फ्रेंच भाषा पर नारमन लोगों को नाज था वह पेरिस के सभ्य और सुसंस्कृत लोगों की दृष्टि में मात्र फ्रेंच का अपभ्रंश रूप था। इस अपभ्रंश से विरक्त हो कर नारमन लोगों ने स्वयं को अंग्रेज और अंग्रेजी के प्रश्न से जोड़ना अच्छा समझा। 1295 मे एडवर्ड प्रथम ने फ्रांस के बादशाह के विरुद्ध जो आरोप-पत्र तैयार किया उसमें उस पर अंग्रेजी भाषा को समाप्त करने का आरोप भी एक था।

1349 में अंग्रेजी एक बार फिर स्कूलों में पढ़ाई जाने लगी। 1362 में पालियामेंट का अधिवेशन अंग्रेजी में शुरू हुआ और कचहरियों में फ्रेंच के प्रयोग पर पाबंदी लगी। इन दिनों फ्रांस क साथ सौ साल तक चलने वाला युद्ध जारी था इस युद्ध के अन्त पर इंगलैंड में फ्रेंच भाषा के रहे-सहे प्रभाव का भी अन्त हो गया।

राजनैतिक उथलपुथल के कारण पुरानी बोलियों में सैक्सन पीछे रह गई नार्थम्ब्रियन स्काटिश में बदल गई। केंटिश का प्रभाव क्षेत्र सीमित ही रहा। शेष बच गई मर्सियन जिस पर देशभाषा का प्रतिनिधित्व करने का दायित्व आ पड़ा। यह मध्यदेश की भाषा थी तथा उत्तर और दक्षिण में समान रूप से बोधगम्य थी।

दूसरे, मर्सियन लंदन की बोली थी और लंदन देश की राजधानी, व्यापार का केन्द्र, न्यायालय की उच्चपीठ, सामाजिक तथा राजनैतिक घटना चक्र की धुरी तथा बुद्धिजीवियों का तीर्थस्थान था। स्वाभाविक ही था की लदन में बोले जाने वाली बोली को राजदरबार, न्यायालय और शिक्षा सस्थानो में प्रश्रय मिलता। इधर कैक्सटन ने लंदन में अपना छापाखाना लगाया। छापेखाने से निकलने वाले अनुवाद ग्रंथो तथा पुस्तकों में लंदन की बोली को स्थान मिला और वह सर्वमान्य हो गई। बोल-चाल की भाषा में बड़ी तेजी से परिवर्तन आता है और यही अंग्रेजी के साथ हुआ भी। पुरानी अंग्रेजी की ध्वनियां बदल गई।

1. ए का रूपान्तर में O हो गया।

Stan, halig का Stone, holy

2. o और e, u तथा i में परिवर्तन हो गये fot >foot, metan >meet.

3. i >ai=lif >life

4 u >au=hus >house.

व्यजनो में h (ach) >h

सज्ञा शब्दो में कारक विभक्तिरहित होते गये । फलस्वरूप वाक्यो में शब्दों के क्रम का महत्व बढ गया । क्रिया पदो के (एन) प्रत्ययान्त रूप लुप्त हो गये तथा प्रत्यय रहित रूपो का प्रचलन हो गया । व्याकरणिक लिंग भेद समाप्त हो गया एक वचन से बहुवचन बनाने की प्रक्रिया सरल हो गई । अधिकाश strong verbs, weak verbs में बदल गये । क्रिया की तीसरी अवस्था के रूपो ge उपसर्ग का लोप हो गया । articles में a, an और the रूढ हो गये ।

नारमन काल में फ्रेंच तथा लैटिन शब्दो की बाढ़ सी आ गई जिन्हें जीवन क सभी क्षेत्रो में यथा प्रशासन चर्च, कानून, सेना, सामाजिक जीवन, कला, औषधि विज्ञान आदि में यथासभव समंजित कर लिया गया ।

हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास

—डा० हरवंश लाल शर्मा

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय साहित्येतिहासकारो ने हिन्दी भाषा के उद्भव एवं उसके विकास पर भी विचार किया है। भाषा-शास्त्रियो का कहना है कि 'भाषा एक परिवर्तनशील व्यवस्था है। देश एव काल के अन्तर से भाषा उपभाषाओं और बोलियों के रूप में उतरोत्तर विकसित होती हुई विभिन्न ऐतिहासिक कारणों से फिर से भाषा के सिंहासन पर आ बैठती है। इस प्रकार भाषा का यह साईकल निरंतर गतिमान बना रहता है। व्याकरणिक एव अन्य कारणों से जब तक कोई खास अन्तर प्रकट नही होता, कोई भी बोली या उपभाषा किसी नई अर्थात् स्वतन्त्र भाषा का रूप प्राप्त नही करती। व्यापक अर्थ में हम जिसे हिन्दी भाषा कहते है, उसके मगही मैथिली, भोजपुरी, अवधी, मेवाड़ी, ढूढारी, भीली, खानदेशी और पहाड़ी आदि कई भेदोपभेद है। बोलियां काल की यात्रा के अनुक्रम में तथा क्षेत्रीय अन्तर के कारण अपना-स्वरूप बदलती है अर्थात् विकास करती रहती हैं। अत: आज की अवधी ब्रज और भोजपुरी आदि का वही रूप नही रह गया जो पहले कभी किसी समय था। हिन्दी के विषय में यह कहा जा सकता है कि संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा रूपो के अनुक्रम में विकसित एक ही भाषा रूप को आज हम हिन्दी भाषा के नाम से जानते एवं पुकारते है।

हिन्दी भाषा के संदर्भ में भाषाशास्त्रियो एव भाषाविज्ञानियो का यह भी कहना है कि ब्रज, अवधी, मगही, भोजपुरी आदि हिन्दी बोलियां का विकास पूर्ववर्ती पांच मुख्य अपभ्रंश भाषा-रूपों से हुआ है। ये भाषाएं साहित्य ग्रन्थ में स्थिर भी बनी रही और जनवाणी के माध्यम से इनके रूप में विकास की प्रक्रिया भी जारी रही। हिन्दी भाषा के प्रारूप को उत्तर अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी एवं अवहट्ट आदि नाम दिया गया है। चन्द्रधरशर्मा गुलेरी और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'उत्तर अपभ्रंश' और 'पुरानी हिन्दी' एक ही भाषारूप के दो नाम हैं। लेकिन बाबू श्यामसुन्दर दास और डा. रामकुमार वर्मा अपभ्रंश के समय में ही प्रयोग में लाई जाने वाली जनभाषा

आकाशवाणी शिमला से 25 अप्रैल, 1980 को प्रसारित

को हिन्दी भाषा की संज्ञा देना बेहतर समझते हैं। तदनुसार अपभ्रंश ही हिन्दी भाषा का प्रारंभिक रूप है। हमारे मत में सिद्धों की रचनाओं में प्रयुक्त भाषा-रूप अपभ्रंश के भाषा से तत्वतः *भिन्न है। अतः इन सिद्धों-नाथों की भाषा को ही हिन्दी का प्रारंभिक* रूप स्वीकार किया जाना चाहिए।

सिद्ध-साहित्य दो भाषा-रूपों में मिलता है। एक अपभ्रंश भाषा रूप में एवं दूसरा पुरानी हिन्दी वाले भाषा रूप में। यह स्मरणीय है कि विद्यापति की रचनाओं, कीर्तिलता और कीर्तिपताका की भाषा अपभ्रंश है। उन्हीं की रचना पदावली में प्रयुक्त भाषा पुरानी हिन्दी है। सही स्थिति यह है कि सभी आधुनिक भाषाएं *अपभ्रंश का ही परवर्ती विकास है।* इसी संदर्भ में 18वीं शती में राजस्थानी ब्रज और खड़ी बोली आदि बोलियों के लिए एक ही भाषानाम अर्थात् हिन्दी भाषा स्वीकार कर लिया गया। हिन्दी भाषा की उपभाषाओं और बोलियों का मुख्य क्षेत्र मध्यप्रदेश है। राजस्थान और पंजाब की पश्चिमी सीमा से लेकर बिहार के उत्तर सीमान्त तक बोली जाने वाली भाषा को भाषाविज्ञानी हिन्दी भाषा की संज्ञा देते आए हैं। हिन्दी भाषा का विस्तार उत्तर प्रदेश के उत्तरी सीमांत से मध्य प्रदेश के मध्य भाग तक है। जबकि आधुनिक काल में खड़ी बोली हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार की जा चुकी है।

कुछ विद्वान अपभ्रंश को हिन्दी का पुराना रूप मानते हैं, तदनुसार हिन्दी का आविर्भाव-काल 9 वीं शती बतलाया गया है परन्तु सुनीतिकुमार चटर्जी, डा. उदय-नारायण तिवारी एवं डा. नामवरसिंह ने हिन्दी भाषा का उद्भव-काल तेरहवीं शती माना है। हजारी प्रसाद द्विवेदी भी तकरीबन ऐसा ही मानते हैं। इस से यही निष्कर्ष *निकलता है कि अपभ्रंश के एकाधिक रूपों में से किसी एक भाषा रूप में साहित्यरचना* होती रही होगी जब कि उसी अपभ्रंश का दूसरा रूप जनबोली के रूप में विकास की यात्रा के पथ पर आरूढ़ रहा होगा। कालान्तर में उन्हीं जन भाषा-रूपों से हिन्दी की अवधी, ब्रज आदि उपभाषाओं एवं बोलियों का विकास हुआ होगा। 1200 ई. तक हिन्दी ने अपभ्रंश से अपना रिश्ता तोड़ लिया होगा परन्तु अभी तक यह स्वीकार्य नहीं हो सका कि हिन्दी का पहला कवि *संदेशरास के रचयिता अब्दुर्रहमान को माना जाए* अथवा शालिभद्र सूरि के काव्य को ही हिन्दी का प्रथम काव्य माना जाए।

हिन्दी भाषा के नाम के पीछे कई बोलियां है। भाषा के अर्थ में हिन्दी के प्रयोग को लेकर हम एक उपलब्ध उदाहरण देना चाहेंगे। हकीम बाजरोया के बारे में यह कहा जाता है कि वह ईरान में नौशेरवां के राज्यकाल में जीवित था। बाजरोया ने पंचतंत्र का अनुवाद फारसी भाषा में किया है। इस अनुवाद की भूमिका में नौशेरवा

स्पष्टतः बुजर्व निहर यह लिखता है कि प्रस्तुत अनुवाद 'जबान-ए-हिन्दी' से किया गया है। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बुजर्व निहर तब भी संस्कृत को ही हिन्दी के नाम से सम्बोधित कर रहा था। लेकिन अमीर खुसरो ने हिन्दी के स्थान पर 'हिन्दुवी' या 'हिन्दुई' शब्द का प्रयोग किया है। यह शौरसेनी अपभ्रंश के विकसित भाषा रूप का ही नाम है। अगर तनिक विस्तार से इसे कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि हिन्दी की सभी उपभाषाओं का विकास मागधी, अर्धमागधी, उत्तरशौरसेनी, माध्यमिक शौरसेनी और पश्चिमी शौरसेनी से ही हुआ है।

हिन्दी भाषा की विकास-यात्रा के तीन काल माने जाते हैं आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिककाल। आदिकाल की सीमा सन् 1000 ई. से 1500 ई. है। इस काल-यात्रा में अपभ्रंश भाषा का रूप अन्तर्धान होता गया था। अपभ्रंश में 'ऐ' और 'औ' ध्वनियों को त्याग दिया गया था। लेकिन हिन्दी में इन ध्वनियों को उच्चारण भेद के साथ फिर से अपना लिया गया। जैसे तैल-तेल, मैल-मैल आदि। हिन्दी में अपभ्रंश द्वारा त्याग दिए गए संस्कृत शब्दों अर्थात् तत्सम शब्द रूपों को फिर से अपना लिया गया।

हिन्दी भाषा का मध्यकाल उसकी विकास-यात्रा का दूसरा उत्थान है। विकास काल की यह सीमा सन् 1500 से सन् 1800 है। इस काल-खण्ड में हिन्दी की विभिन्न बोलियों का विकास हुआ है। फारसी और अरबी के प्रभावान्तर्गत ख़, ग़, ज़, फ़, आदि ध्वनियों को स्वीकार कर लिया गया।

हिन्दी भाषा का आधुनिक काल इस भाषा के पूर्ण विकास का काल है। अंग्रेजी भाषा के प्रभाव को स्वीकार करते हुए हिन्दी ने अपनी शब्द-यात्रा को आगे बढ़ा दिया है। समय करवट बदलता रहा है और अन्ततः ऐतिहासिक कारणों के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी ने खड़ी बोली के रूप में स्वयं को प्रतिष्ठित किया है। खड़ी बोली सगोत्रीय एवं अगोत्रीय शब्दावली को समेटती हुई सभी प्रकार के ज्ञान भण्डार को आत्मसात करने के योग्य बनी है। हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू का भेद मिटा है। यही है हिन्दी भाषा के उद्भव और उसके विकास की कहानी। आज हमारे घरों में स्त्रियाँ प्रायः "अजी मेरी बात तो सुनिये" कहती हैं। क्या कोई यह कह सकता है कि "आर्य। श्रणुतां तावत् मम वार्ता"। यही अपनी परवर्ती विकास-यात्रा में 'अजी, जरा मेरी बात तो सुनिए, बन गया है। आर्य से अय्य बना है। अय्य से अज्ज और यह अज्ज ही आज 'अजी' के रूप में प्रिय का संबोधन बन चुका है।